लोक-गंगा के तट से

धीरेन्द्र मजूमदार

सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी

सम्पादकीय

विनोबाजी ने जिस क्रान्ति का आवाहन किया है, वह क्रान्ति एक ऐसी क्रान्ति है, जो आज तक न कहीं हुई है, न किसीने उसकी परिकल्पना की है। क्रान्ति के शास्त्र में ही, क्रान्ति की प्रक्रिया में ही आमूल क्रान्ति लानेवाली यह क्रान्ति है। इसलिए आज तक का कोई क्रान्ति-शास्त्र इसमें मार्गदर्शन नहीं कर सकता। वह मार्ग इस क्रान्ति के उपासकों को खुद ही खोजना है। धीरेनभाई के शब्दों में, यह क्रान्ति वास्कोडिगामा की यात्रा है। लक्ष्य स्पष्ट है, लेकिन मार्ग से परिचय नहीं है। इस क्रान्ति की टेकनीक इतिहास की पुरानी क्रान्तियों की टेकनीकों को तोड़ या जोड़कर नहीं बनायी जा सकेगी। उसे नये सिरे से खोजना पड़ेगा।

मार्ग-खोजन की ऐसी ही साधना में से इस छोटी-सी पुस्तिका का निर्माण हुआ है। इस अहिंसक सर्वोदयी क्रान्ति के एक अनन्य उपासक श्री धीरेनभाई पिछले दो-ढाई साल से बिहार के सहरसा जिले में अपनी लोक-गंगा-यात्रा कर रहे हैं। वे मानते हैं कि लोकशक्ति की आराधना के लिए *लोक-गंगा की उपासना आवश्यक है।* उस *लोक-गंगा* के तट पर यात्रा करते हुए उनका जो चिन्तन चलता रहा, उसे वे समय-समय पर आन्दोलन के एक वरिष्ठ साथी श्री कृष्णराज मेहता के नाम पत्र के रूप में प्रकट करते रहे हैं। उन सब पत्रों की सामग्री पर से संकलन-सम्पादन करके यह पुस्तिका तैयार की गयी है।

आशा है कि यह पुस्तिका आन्दोलन के अन्य साथियों को लोक-गंगा में गोता लगाकर मार्ग-खोजन की साधना में निमग्न होने को प्रेरित करेगी और उन्हें अपने चिन्तन-खोजन में भी मददगार साबित होगी। तदुपरान्त, यह भी अपेक्षा है कि इस अनोखी लोक-क्रान्ति के स्वरूप की यह तलस्पर्शी छानबीन 'लोक' को भी इसमें अधिक इन्वॉल्व करने में सहायक होगी।

वाराणसी
२२-११-'७३

—कान्ति शाह

अनुक्रम

●

१. मार्ग-खोजन की वेला

मेरी यह निश्चित मान्यता है कि हमारा आन्दोलन अब उस मंजिल पर पहुँच गया है, जब हमारे सभी ऊपर के कार्यकर्ताओं को क्षेत्र चुनकर 'मार्ग-खोजन' में लग जाना चाहिए। मैंने समझ-बूझकर 'मार्ग-खोजन' शब्द का इस्तेमाल किया है। मैं मानता हूँ कि हममें से किसीमें विनोबा-जी के समान 'मार्ग-दर्शन' की क्षमता नहीं है।

इसका मतलब यह नहीं है कि हम सभी लोग अयोग्य मनुष्य हैं। हाँ, इस क्रान्ति के मार्ग-दर्शन के लिए हम लोग अयोग्य इसलिए हैं, क्योंकि हममें से किसीको भी अपने जीवन मे रचनात्मक कार्यक्रमों के सिलसिले में परम्परागत परिपाटी को बदलने के लिए कोई अनुभव प्राप्त करने का अवसर नहीं मिला है। गाँव में बैठकर हममें से कइयों ने रचनात्मक काम किया है, लेकिन वह मुख्यतः राहत का काम रहा है, समाज-परिवर्तन का नहीं। हमने गांधीजी के मुँह से अहिंसक समाज की बात सुनी है, लेकिन कभी गम्भीरता के साथ अहिंसक समाज-निर्माण का काम नहीं किया है।

विनोबाजी ने अपने व्यक्तिगत परिवेश मे कुछ आध्यात्मिक चेतना का निर्माण अवश्य किया है, साथ ही अखिल भारतीय भूमिका में सामाजिक और राजनैतिक जीवन के साथ उसके समवाय के प्रयोग के लिए उसका उद्‌घोष भी किया है और उसके लिए प्रेरणा भी प्रदान की है, जिसके परिणामस्वरूप देश और दुनिया मे ग्रामस्वराज्य का शब्द फैला है, लेकिन पिछले बीस सालों से सतत तप और जप के जरिये उन्होंने जो काम किया है, उसमें से उस क्रान्ति के लक्ष्य का विचार तो निखरा है, लेकिन मार्ग प्रस्तुत नहीं हो सका है। इसलिए आज हम सबके लिए

मार्ग-खोजन की आवश्यकता है। इस मार्ग-खोजन का काम पुराने पक्के कार्यकर्ता ही कर सकते हैं। लेकिन आज हमारे सभी समर्थ चिन्तनशील तथा अनुभवी मित्र देश और दुनिया में सर्वोदय का विचार फैलाने के मोह में यह काम कर नहीं रहे हैं, जिसके परिणामस्वरूप मार्ग-दर्शन तो नहीं ही होता, मार्ग-खोजन भी नहीं हो पाता।

अतः इस बात की सम्भावना है कि अपना व्यापक लक्ष्य भी मार्ग-खोजन के अभाव में कुण्ठित हो जायगा और इस विचार के निखरने के कारण जो भी तरुण-तरुणियाँ आन्दोलन के प्रति आकृष्ट हो रही हैं, वे गहराई के अभाव मे निराश हो जायँगी। अतएव, मै अत्यन्त तीव्रता के साथ यह अनुभव करता हूँ कि हमारे अनुभवी और सुलझे हुए तथा समर्थ कार्यकर्ता देशभर में सर्वोदय-विचार से प्रेरित संस्थाओं के संचालन तथा अखिल भारत से अखिल विश्व तक सम्पर्क साधने के काम को अपने जूनियरों के हाथ में छोड़कर अपने-अपने प्रभाव के क्षेत्र में जाकर सातत्य तथा एकाग्रता के साथ मार्ग-खोजन का काम करें। ऐसा न करने पर बावजूद सारे प्रचार के हमारा काम निराशा के गर्त में डूब जायगा।

आज हालत क्या है? सहरसा और अन्य प्रदेशों की मेरी यात्रा मे मुझे एक चीज देखने को मिली कि सर्वोदय-विचार के लिए आज जनता में जिज्ञासा बढ़ी है, लेकिन कार्यकर्ताओं मे थकान आ गयी है। ऐसा क्यों? किसी भी क्रान्तिकारी आन्दोलन की जीवन-कथा यह होती है कि शुरू मे *नयी क्रान्ति के उद्‌घोष की नवीनता जन-मानस को आलोडित* करती है और जैसे-जैसे उसकी नवीनता घटती जाती है, वैसे-वैसे जनता उदासीन होती जाती है। तब, एक बार आन्दोलन ठंडा पड़ जाता है। लेकिन ऊपर से ठंडा पड़ जाने पर भी अन्तर्मानस मे आन्दोलन का जोर चलता रहता है।

दूसरी तरफ, जिस दूषित तथा संकटपूर्ण पद्धति और संस्थाओं को समाप्त कर नयी मूल्य-पद्धति तथा मान्यताओं को नयी क्रान्ति द्वारा

अधिष्ठित करने का आन्दोलन होता है, उसके दोषों का एहसास भी होने लगता है। ऐसी परिस्थिति में आन्दोलन के ठंडा रहने पर भी लोक-मानस में जिज्ञासा तथा चिन्तन का अंकुर बढ़ता जाता है।

इस मनःस्थिति में किसी-न-किसी अवसर पर आन्दोलन का एक बार पुनः उभाड़ होता है। लेकिन आन्दोलन में लगे लोगों से नयी जिज्ञासा का सम्यक् उत्तर न मिलने के कारण तथा उनके जीवन के 'क्रिटिकल अध्ययन' के कारण जनता का समाधान नहीं हो पाता है।

शुरू-शुरू में जो लोग आन्दोलन के प्रति व्यापक रूप से आकर्षित होते हैं, उसका कारण जितनी नवीनता होती है, उतनी विचार की प्रेरणा नहीं। इसलिए उस समय किसी भी प्रकार का कार्यकर्ता आन्दोलन का वाहक बनने में समर्थ हो जाता है। लेकिन जब विचार की मीमांसा, शंका-समाधान तथा जीवनक्रम के स्तर पर जनता की अपेक्षाएँ निर्मित हो जाती हैं और कार्यकर्ता उस अपेक्षा की पूर्ति नहीं कर पाता है, तब फिर एक बार उस अल्पकालीन उभाड़ के बाद आन्दोलन ठंडा पड़ जाता है और जनता कुछ निराश होने लगती है।

अतः मैंने जब देखा कि जनता में जिज्ञासा उत्पन्न होने के बावजूद कार्यकर्ता थके हुए हैं, तो मैंने माना कि ऐसे समय में किसी भी क्रान्ति-कारी की तैयारी वनवास में जाने की होनी चाहिए। इसीलिए मैं आग्रह-पूर्वक मित्रों से कहता रहा हूँ कि उन्हें वनवास की स्थिति को स्वीकार करना ही होगा और क्रान्ति के लिए हड्डी गलाने की तैयारी करनी ही पड़ेगी। इस वक्त हम लोगों को समझना होगा कि हम चाहे जो प्रयास करें, इस आन्दोलन का उभाड़ तत्काल सम्भव नहीं है। अतएव अत्यन्त धैर्य और सातत्य के साथ अज्ञातवास में रहकर जनता के अगले उभाड़ के लिए तैयारी करनी होगी। यानी जन-मानस में क्रान्ति-विचार के अनुप्रवेश के कार्यों में लगना होगा। साथ ही, अपने अन्दर अध्ययन, चिन्तन और मनन से विचार की सफाई करते रहनी होगी।

इसके लिए हम लोगों के बीच जाकर बैठें और मार्ग-खोजन करें।

तब धीरे-धीरे स्पष्ट मार्ग दिखायी पड़ेगा। मैं हमेशा से कहता रहा हूँ कि हमारी क्रान्ति वास्कोडिगामा की यात्रा है। लक्ष्य स्पष्ट है, लेकिन मार्ग से परिचय नहीं है। हमारी क्रान्ति की तकनीक इतिहास की पुरानी क्रान्तियों की तकनीक को तोड़ या जोड़कर नहीं बनायी जा सकेगी। उसकी नये सिरे से खोज करनी पड़ेगी। हमारे तरुण साथी बहुत छटपटाते हैं। वे क्रियाशील अहिंसा के दर्शन के लिए व्याकुल हैं। लेकिन दुर्भाग्य से यह क्रियाशीलता हिंसात्मक क्रियाशीलता की डिजाइन में ही देखने का प्रयास वे करते हैं। वे पुरातन हिंसात्मक क्रान्ति के मलबे में से अहिंसक क्रान्ति का मार्ग निकालना चाहते हैं। इसलिए वे रह-रहकर निराश होते रहते हैं। उनसे मेरा निवेदन है कि उन्हें धैर्य के साथ नयी क्रान्ति के लिए नया मार्ग खोजने में अपनी हड्डी गलानी होगी। जनता की नयी जिज्ञासा के समाधान के लिए अब क्रान्तिकारी को उसी तरह बैठकर हड्डी गलानी होगी, जिस तरह उपनिषद्-काल में नवीन संस्कृति के निर्माण के लिए हजारों ऋषियों ने हड्डी गलायी थी।

हमारी क्रान्ति अल्पकालीन अभियान का विषय नहीं है। इसके लिए अनेक साधकों को अपनी हड्डी गलाने की आवश्यकता है। विनोबा जिस क्रान्ति का प्रतिपादन करना चाहते हैं, वह एक नयी तथा बुनियादी संस्कृति के अधिष्ठान की क्रान्ति है। इसके लिए स्थायी साधकों की आवश्यकता है। मुल्क के गांधी-विचार के कार्यकर्ताओं में से कम-से-कम एक सौ 'बेस्ट टेलेन्ट्स' पाँच साल का न्यूनतम समय मार्ग-खोजन में लगायें, क्योंकि मैं मानता हूँ कि इस आन्दोलन को जन-शक्ति के सहारे स्टार्ट करने के लिए पाँच साल तक इतनी शक्ति लगाने की अनिवार्य आवश्यकता है।

यह बात सही है कि सर्वोदय की क्रान्ति के लिए, ग्रामस्वराज्य के अधिष्ठान के लिए आज की जागतिक परिस्थिति अत्यन्त अनुकूल है। फिर भी क्रान्ति की सही दिशा में जन-मानस को उद्बोधित करने के लिए कुछ विचारनिष्ठ क्रान्तिकारियों को उसी तरह से जन-जन में घुलना

होगा, जिस तरह दही जमाने के लिए जामन को दूध में घुलना पड़ता है। गांधीजी ने देश की परिस्थिति और मनःस्थिति को समझकर ग्राम-स्वराज्य की क्रान्ति के लिए हर गाँव में एक क्रान्तिकारी नौजवान का जीवन-समर्पण आवश्यक समझा था। मैं पूरी तरह मानता हूँ कि भारत की देहाती जनता की जो चारित्रिक और मानसिक परिस्थिति है, उसके हिसाब से गांधीजी का गणित बिलकुल सही है। उसी दिशा के प्रथम चरण के तौर पर देश के एक सौ 'बेस्ट टेलेन्ट्स' की माँग है। 'बेस्ट टेलेन्ट्स' का अर्थ जो मैंने माना है, वह यह है कि उनमें लोक-गंगा में डुबकी लगाकर अपने साथ कम-से-कम बीस क्रान्तिकारी साथियों को खोज निकालने की शक्ति हो। आज ऐसे कम-से-कम एक सौ कार्यकर्ता क्षेत्र चुनकर मार्ग-खोजन के काम में लगें।

२. लोक-शिक्षण के लिए लोक में प्रवेश

मैं हमेशा कहता रहा हूँ कि क्रान्ति की जीवनी साँप की जीवनी जैसी होती है। साँप अपने शरीर का केंचुल लगातार बदलता रहता है। उसी तरह क्रान्ति की व्यूह-रचना भी समय-समय पर बदलती रहनी चाहिए।

रचनात्मक क्रान्ति की व्यूह-रचना में एक बात पर बहुत अधिक ध्यान देने की जरूरत है। क्रान्ति और युद्ध के टेकनिक में अन्तर होता है। युद्ध में प्रदर्शनात्मक धूमधाम अन्त तक आवश्यक होती हैं और वह प्रक्रिया मदद पहुँचाती है। क्रान्ति के लिए प्रदर्शनात्मक धूमधाम प्राथमिक ध्यान-आकर्षण के लिए तो आवश्यक है, लेकिन एक सीमा के बाद अधिक होने पर वह क्रान्ति को हानि पहुँचाती है। युद्ध में एक सामनेवाले टारजेट को गिराना पड़ता है, इसलिए आखिर तक हूँकार की आवश्यकता होती है। लेकिन क्रान्ति में मान्यता और मूल्य-परिवर्तन करना होता है। इसलिए उसकी मुख्य प्रक्रिया विचार का अनुप्रवेश

होता है, जिसके लिए थोड़ी आवश्यक धूमधाम की जाती है। क्रान्ति में उसका स्वरूप आनुषंगिक होना चाहिए, न कि वह मुख्य प्रक्रिया ही हो जाय।

इस देश में हर काम ठोंक-पीटकर होता है। जन्म, विवाह और मृत्यु के अनुष्ठान सब बाजे और कीर्तन से होते हैं। हमारे देश की प्रतिभा ने तप-बल के साथ जप-बल को भी एक बल माना है। ढोल पीटना भावनात्मक उद्‌बोधन के लिए सहायक होता है, तथापि ढोल ही अनुष्ठान नहीं होता है। अनुष्ठानिक क्रिया तो गम्भीर मन्त्र के साथ ही होती है और उस काम के लिए गाम्भीर्य का वातावरण भी आवश्यक होता है। नारा, प्रदर्शन और कीर्तन क्रान्ति के उद्‌बोधन के लिए आवश्यक जरूर है, लेकिन वह खुद क्रान्ति नहीं है।

किसी भी आन्दोलन को अत्यधिक धूमधाम और प्रदर्शन के रूप में एक स्थान पर पहुँचाया जाय और उसके बाद की प्रगति रुक जाय, तो यह स्थिति आन्दोलन के लिए बहुत खतरनाक है, ऐसा समझना चाहिए। इसलिए आज तक के हमारे काम से पैदा किये हुए भावनात्मक उभार को अब रचनात्मक दिशा में मोड़ने की जरूरत है। नहीं तो सारी क्रान्ति पीछे मुड़कर अधोगति की ओर बढ़ेगी, जिसे फिर उठाना मुश्किल होगा।

बिहारदान, तमिलनाडुदान और जो अनेक ग्रामदानों की निष्पत्ति हुई है, उसके द्वारा हमने देश और दुनिया का अपनी क्रान्ति के प्रति केवल ध्यानाकर्षण मात्र किया है और इतनी निष्पत्ति हमने मुख्य रूप से जप-बल से ही निकाली है। लेकिन अब केवल जप से काम नहीं चलेगा, तप की आवश्यकता है। तूफान के युग में हमने सिर्फ 'शब्द-संचार' किया था। अब हमको 'अर्थ-संचार' करना है।

क्रान्ति के सन्दर्भ में हम कहते हैं कि हमारा आन्दोलन मुक्ति का आन्दोलन है, पुण्य का नहीं। तो, आन्दोलन के प्रचारात्मक अभियान के साथ एक केन्द्रीय दिशा यह होनी चाहिए कि किस चीज से मुक्ति का यह आन्दोलन है और उस चीज को लेकर क्यों मुक्ति, किस तरीके से

मुक्ति तथा मुक्ति के बाद किस चीज की सृष्टि—इन प्रश्नों पर अत्यन्त सफाई के साथ प्रकाश डालने की जरूरत है। और यह काम लोक-शिक्षण के लिए लोक में प्रवेश करके ही हो सकता है।

आज की जनता किसी विचार या जमात के प्रति दिलचस्पी नहीं रखती है। किसीको नाखुश नहीं करना चाहती और अपने को सबसे अलग रखना चाहती है। क्योंकि वह यह मानती है कि कोई कुछ हमारा करेगा नहीं। इस कारण उसमें काफी निराशा है। ऐसी निराशा के अवसर पर हम लोग काफी गड़बड़ कर डालते हैं। दूसरी-दूसरी पार्टी जैसे हम भी कुछ करने का आश्वासन दिलाने की बात करते हैं। बाहर की कोई जमात आपके लिए कुछ करेगी नहीं, आपको अपने ऊपर भरोसा करके समस्या का हल खोजना होगा, आदि बातें ठीक से समझाकर ग्रामस्वराज्य के मूल तत्वों को उनके मानस में प्रवेश कराने का प्रयास नहीं करते हैं, बल्कि यह हो जायगा, वह हो जायगा इत्यादि बातें ही अधिक करते हैं। इसके कारण जनता के मन में हमारे लिए दूसरों से अधिक निराशा पैदा हो गयी है, क्योंकि हमने अपनी प्राथमिक धूमधाम से उनके मन में कुछ कर डालेंगे ऐसी आशा बाँधी थी, लेकिन वह पूरी नहीं हो सकी।

इन सब चीजों को समझकर हमारे साथी को ग्रामस्वराज्य-आन्दोलन में काम करना होगा और सातत्य के साथ विचार-शिक्षण तथा अपने जीवन-दर्शन से जनता के मन में सर्वोदय-आन्दोलन के लिए सही प्रतिभा प्रस्तुत करनी होगी। समझ लेना होगा कि यह केवल धूमधाम का काम नहीं है और न थोड़ी देर में फसल काटने का काम है। अगर सैनिक-शक्ति को बदलकर सम्मति-शक्ति का अधिष्ठान करना है और उसके लिए अगर संचालन-पद्धति के स्थान पर सहकारी-पद्धति की स्थापना करनी है, तो इस क्रान्ति के लिए जनता के मानस के अन्तस्तल में घुसना होगा, उसको हमारे विचार के प्रति आकर्षित करना होगा तथा परम्परागत संस्कृति को बदलकर एक नयी संस्कृति का निर्माण

करना होगा। यही कारण है कि मैं कभी हड्डी गलाने की बात को दुहराते हुए थकता नहीं हूँ।

मेरी यात्राओं के दरम्यान मैंने देखा कि देहाती क्षेत्र में हमारे आन्दोलन के प्रति सहानुभूति रखनेवाले भिन्न-भिन्न प्रकार के कुछ लोग मौजूद हैं। कुछ गांधीजी के भक्त और कुछ विनोबाजी के प्रति आकर्षित व्यक्ति मिलते थे। लेकिन इनमें से अधिकांश लोगों की दृष्टि व्यक्तिगत श्रद्धा की है, क्रान्ति-विचार की नहीं। वे राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक प्रश्नों पर यथास्थितिवादी हैं, फिर भी गांधी-विनोबा के भक्त हैं। ऐसे लोगों से सम्पर्क कर कुछ विचार-प्रेरणा का प्रयास किया जा सकता है। लेकिन मुझे लगा कि वे क्रान्ति के मार्ग में अधिक दूर नहीं जा सकेंगे। प्राथमिक सहायता उन लोगों से भले ही भरपूर मिल जाय।

इनके अलावा कुछ लोगों से सम्पर्क हुआ, जो हमारे कामों में दिलचस्पी लेते हैं। लेकिन वे तभी दिलचस्पी लेते हैं, जब हमारी तरफ से धूमधाम हो। ये लोग अपने लिए कुछ ग्लेमर चाहते हैं। लेकिन उन्हें राजनैतिक पार्टियों में समाधान नहीं है अभियान आदि कामों के लिए ये हमारे अच्छे सहायक हो सकते हैं। इनसे भी हमें सम्पर्क रखना चाहिए। इनमें प्रथम कोटि के लोगों से अधिक स्फूर्ति है। लेकिन यह स्फूर्ति अत्यन्त अल्पकालीन है। ये लोग खुली दृष्टिवाले हैं। ये न यथास्थितिवादी हैं, न क्रान्तिकारी। अतः इनमें से अगर कुछ नौजवान हमारे विचार के प्रति गहराई से आकर्षित होंगे, तो आगे चलकर अच्छे सहायक हो सकेंगे।

तीसरी श्रेणी के नौजवान, जो सहानुभूतिपूर्वक हमारे सम्पर्क में आये, वे साम्यवादी, समाजवादी और नक्सलवादी हैं। उनमें से अधिकांश लोग गहराई से हमारे विचार को समझना चाहते हैं। उनमें भावना है और सामाजिक चेतना भी। यद्यपि ये भी मध्यम-वर्ग के किसान जैसे ही अपने मजदूरों का शोषण करते हैं तथा उनके साथ दुर्व्यवहार भी करते हैं, फिर भी मानते हैं कि यह अनुचित है। यद्यपि प्रथम और द्वितीय

प्रकार के लोग इस प्रश्न पर सम्पूर्ण रूप से पुराणपंथी होते हैं और इसके लिए उचित-अनुचित के प्रश्न पर पूर्णतः उदासीन रहते हैं। कुल मिलाकर मुझे लगता है कि अगर इस तीसरे प्रकार के लोगों का विचार-परिवर्तन किया जा सके, तो ग्रामस्वराज्य की क्रान्ति के लिए उन्हे अधिक सक्रिय बनाया जा सकता है। मैंने उनसे चर्चा करके देखा कि उनमे जो लोग पार्टीवाद के अनन्यपोषक नहीं, केवल वामपंथी विचारों से प्रभावित हैं, उनका विचार-परिवर्तन आसान है।

यह सब करने के लिए हमारे में जो बेस्ट टेलेन्ट हैं, उन्हे संस्थाओं की जिम्मेदारी छोड़कर फील्ड में जाना चाहिए। तभी देश के ग्रामीण जनों में जो छिपे पड़े क्रान्तिकारी तत्त्व हैं, उन्हें सामने लाया जा सकेगा। इस प्रश्न पर आन्दोलन की मुख्य धारा को गम्भीरता से सोचना पड़ेगा, ताकि ये तीनों प्रकार के मित्रों में से जिम्मेदार सहयोगी खोजे जा सकें।

जब मैं ग्रामीण क्षेत्र का गहराई से अध्ययन करता हूँ, तब एक अत्यन्त आश्चर्यजनक बात नजर आती है। वह यह कि गाँव के प्रौढ़ व्यक्ति ही आज सामाजिक समस्याओं के प्रति कुछ चेतना रखते हैं। तरुण पीढ़ी सम्पूर्ण रूप से उदासीन है। तरुणों की यह उदासीनता हमारे स्वराज्य की अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण देन है।

यह सही है कि तरुण-समाज मुख्य रूप से ग्लेमर चाहता है। लेकिन उनमें एक ऐसा तत्त्व मौजूद रहता है, जो कुछ अधिक गम्भीर होता है। वे साधारण ग्लेमर से आगे बढ़कर रोमान्स भी चाहता है। ग्लेमर हल्ला-गुल्ला से, प्रदर्शन से और इस प्रकार के कुछ और आडम्बर से मिल सकता है। लेकिन रोमान्स के लिए कुछ नयी चीज चाहिए, जिसके लिए इन्सान अपने को कुर्बान कर सके।

स्वराज्य के नेतृत्व ने देश के तरुणों को ग्लेमर का भरपूर अवसर दिया है। विदेशी चकाचौंध में पड़कर उसने देश के नौजवानों को आडम्बर तथा उपभोग की ओर झोंककर उन्हें ग्लेमर का पुजारी बना दिया है। देश के नेतृत्व ने मुल्क के लिए कोई नया मार्ग प्रस्तुत कर

तरुण-समाज को रोमान्स के लिए प्रेरित नहीं किया, जो रचनात्मक तथा उत्पादक होता। जिन थोड़े तरुणों में मर मिटने का तीव्र बीज मौजूद रहा है, वे बावजूद इस ग्लेमरमूलक वातावरण के अपने आपकी प्रेरणा से दुस्साहस की ओर जरूर बढ़ते रहे हैं। लेकिन रचनात्मक दिशा के अभाव में उनकी प्रवृत्ति ध्वंसात्मक दिशा में मुड़ती चली गयी। इस प्रकार ग्लेमर का वातावरण इतना भरपूर बन गया है कि विनोबाजी द्वारा नयी क्रान्ति के उद्घोष के बावजूद हमारी सर्वोदय-क्रान्ति की जमात में भी तरुणों में ग्लेमर की जितनी चाह दिखायी देती है, उतनी रोमान्स यानी नयी क्रान्ति के पीछे मर मिटने की नहीं। किसी व्यक्ति की किसी बुनियाद-बिन्दु पर धँसने की तैयारी नहीं दीखती।

उत्साही नौजवानो, एक बात ध्यान में रखनी है कि जिनमें भावना है, शक्ति है, उनको सामान्य चीजों से दिलचस्पी नहीं होती। उनको कुछ विशेष चाहिए। उनको या तो भरपूर वैभव का दर्शन होना चाहिए, या भैरव का। जब तक हम लीक छोड़कर कोई भैरव यानी क्रान्तिकारी मार्ग प्रस्तुत नहीं करेंगे, तब तक शक्तिशाली और भावनाशील नौजवान हमारी तरफ आकर्षित नहीं होंगे।

यह सब काम लोक-शिक्षण के लिए लोक में प्रवेश करके ही हो सकता है। हम चाहते हैं कि जनता में क्रान्ति का उद्बोधन हो। इतना ही नहीं, उन्हें यह भी बोध हो कि क्रान्ति की पहल तथा अनुष्ठान की जिम्मेवारी भी उनकी ही है, किसी नेता या संस्था की नहीं। यह एक बहुत कठिन चट्टान फोड़ने का काम है। इसलिए जब-जब मैं देखता हूँ कि हमारे साथी यह कहकर निराश हो रहे हैं कि बीस साल हो गये, फिर भी क्रान्ति निखर नहीं रही है, तो मुझे सन्देह हो जाता है कि हम क्रान्तिकारी नहीं हैं। छोटा-सा अंग्रेज भगाने का युद्ध था, फिर भी उसके लिए १८८५ से १९४७ तक हजारों महापुरुष तथा युवा-शक्ति का बलिदान हुआ। और हम सोचते हैं कि हम मुट्ठीभर साथी मिलकर पचीस साल की छोटी-सी अवधि में इस बुनियादी क्रान्ति को निखार लेंगे!

गांधीजी ने इस देश के लोक की स्थिति पहचानी थी और पहचान-कर तथा हिसाब लगाकर उन्होंने माँग की थी कि सात लाख गाँवों में ग्रामस्वराज्य की स्थापना के लिए सात लाख नौजवानों का जीवन-समर्पण आवश्यक है। हमें समझना चाहिए कि इस क्रान्ति को निखारने के लिए हजारों नहीं, लाखों तरुणों को हड्डी गलानी होगी। ये तरुण किसी जमात के नहीं होंगे, जन-जन में फैले होंगे। हम सबका काम है, जन-समुद्र को मथकर उन तरुणों को ऊपर लाना। इसके लिए हमारे चोटी के कार्यकर्ताओं को जनता के बीच बैठकर ग्रामस्वराज्य का काम करने के लिए लोक-संग्रह में लगना चाहिए।

३. लोकतन्त्र की रक्षा कौन करेगा ?

जब हम कहते हैं कि हमें जनता को मोबिलाइज करना है, तो इसका अर्थ हमें अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए कि आज समाज की मनःस्थिति क्या है। हजारों बरसों से समाज ने यह माना नहीं है कि उनकी समस्या के समाधान की जिम्मेदारी उनकी ही है और न अब तक के समाजशास्त्रियों ने यह बात उन्हें समझायी है। जनता को हजारों बरसों से इसी मान्यता का अभ्यास रहा है कि उनके लिए सोचनेवाले कोई राजा, कोई गुरु, कोई पुरोहित या कोई नेता हैं। और ये जो सोचेंगे, उसके अनुसार अमल करनेवाली कोई राज्य-संस्था, सेवा-संस्था, कल्याण-संस्था या धर्म-संस्था है। यानी कोई काम जनता के प्रथम पुरुष और द्वितीय पुरुष के बीच में नहीं करना है। वह किसी तृतीय पुरुष द्वारा ही होगा। इसी मनःस्थिति को विनोबाजी 'देइज्म' कहते हैं।

हम लोग आजादी की लड़ाई के दिनों में देहातों में घूमते थे, तो हमारे लिए लोगों के दिल में बहुत आदर था। वह आदर इसलिए था कि हम गुलामी हटाने के सिपाही थे और उसके लिए त्याग और तप में

लगे हुए थे। आमतौर से वे मानते थे कि अंग्रेजों का राज हटेगा, तो गांधीजी का राज होगा। वे इसी तरह से बात भी करते थे। वे लोकतन्त्र की कभी कल्पना भी नहीं कर सकते थे और न हमने कभी उन्हें लोकतन्त्र के विचार की प्रेरणा दी थी।

आजादी हासिल होने के तुरंत बाद भी जब हम जनता में घूमते थे और चर्चा के दरम्यान पूछते थे, "बताओ, आज देश मे किसका राज है ?" तो भरी सभा में एक स्वर से आवाज उठती थी, "जवाहरलाल नेहरू का राज है।" जब हम पूछते थे, "नेहरूजी के मरने पर किसका राज होगा ?" तो काफी आवाज सुनायी देती थी, "उनके बेटे का।" और इत्तिफाक ऐसा हुआ कि हो भी वैसा ही गया।

यह तो मैं देहाती जनता के मनःस्थिति की बात कर रहा हूँ। लेकिन वस्तुस्थिति यह थी कि शहराती जनता का, जिनको हम सचेतन जनता कहते हैं, मानस भी उसी प्रकार का था। एक दिलचस्प कहानी याद आ रही है। मुजफ्फरपुर जैसे बड़े शहर में चुनाव की सभा चल रही थी। उस सभा मे कृपालानीजी ने वही सवाल पूछा, जो आये दिन देहातों में हम लोग पूछते रहे हैं। तो उनको भी वही जवाब मिला, जो हम लोगों को अचेतन ग्रामीण जनता से मिलता था।

आज आजादी के पचीस साल के बाद भी मेरी यात्रा में जब मै लोकतन्त्र की बात समझाने का प्रयास करता हूँ, तो काफी समझदार लोग भी कहते हैं कि गाँव की समस्या की जिम्मेदारी हमारी नहीं है, वह उसकी है, जो राज करता है। पचीस साल मे इतना अन्तर अवश्य हो गया है कि आज पूछने पर जनता यह कहने लगी है कि देश में जनता का राज है। लेकिन यह कहना लोकतन्त्र के विचार समझकर उसके लिए एहसास का परिणाम नहीं है, बल्कि विभिन्न चुनावों के अवसर पर भिन्न-भिन्न पार्टी के नेता और कार्यकर्ता के उद्घोष की यादगार है। एक शब्द चल गया है और जनता उसे दोहरा रही है। अगर यह शब्द लोकतन्त्र के शिक्षण का परिणाम होता, तो जितनी आसानी से

थोड़े से लोग आज पूरे चुनाव-बूथ को दखल कर लेते हैं, वैसा न हो पाता। आज सर्वत्र मुझे दिखायी दे रहा है कि जनता सरकार के लिए वही भावना रखती है, जो राजा के लिए रखती थी।

इस देश के लोकतन्त्र के पुजारी इंग्लैंड के लोकतन्त्र की बड़ी तारीफ करते हैं। वह चाहते हैं कि हमारे देश में भी वैसा हो जाय। लेकिन वे समझते नहीं हैं कि ऐसी आशा करना इतिहास का इनकार करना है। हमें यह समझना चाहिए कि इंग्लैंड में जिस क्रान्ति और साधना के परिणामस्वरूप लोकतन्त्र की सिद्धि हुई थी, उस आन्दोलन की प्रेरणा लोकतन्त्र की थी। उसका लक्ष्य स्पष्ट रूप से लोकतन्त्र का था। उसका नारा लोकतन्त्र के लिए था। इसलिए स्वाभाविक ही वहाँ लोकतन्त्र पनपा।

किसी क्रान्तिकारी आन्दोलन का नारा लोक-मानस में बिजली के करेण्ट की तरह बह जाता है। फ्रान्स में सम्राट् के विरुद्ध लोकतन्त्र कायम करने के लिए जब क्रान्ति का उद्घोष हुआ था, तब स्वभावतः वह उद्घोष और वह नारा ही लोकतन्त्र की दिशा में लोक-मानस को आलोकित करने के लिए काफी था। वह एकदम फैलनेवाली क्रान्ति की प्रक्रिया थी।

लेकिन हमारे देश का इतिहास इससे बिलकुल भिन्न है। यहाँ के आन्दोलन की प्रेरणा लोकतन्त्र की नहीं, गुलामी-मुक्ति की थी। देश गुलाम था और उस गुलामी में से मुक्त होना था। तो यह स्वाभाविक था कि मुल्क के नेता राष्ट्र के सामने गुलामी हटाने यानी स्वतन्त्रता-प्राप्ति का ही नारा देते। यद्यपि हमारे देश के नेता पश्चिम के लोक-तान्त्रिक विचारों से प्रभावित थे, फिर भी आन्दोलन के लिए उन्हें गुलामी-मुक्ति की ही दिशा में लोक-शिक्षण करना पड़ा। लोकतन्त्र के विचार को समझाने का अवसर उस समय नहीं था। इसलिए तब गुलामी-मुक्ति की प्रेरणा से और उसी नारे के साथ देश ने आन्दोलन किया,

उसके लिए त्याग और तप किया और उसकी साधना में जो करना था, किया।

बाद में देश आजाद होने पर नेताओं के विचार के अनुसार इस देश में लोकतन्त्र की स्थापना तो हो गयी, लेकिन लोकतान्त्रिक विचार के शिक्षण के अभाव में लोकतन्त्र का लोक अपने को पुरानी प्रजा की हैसियत के रूप में ही देखता रहा। अतएव इस देश का लोक पाश्चात्य लोकतान्त्रिक समाज के लोक जैसा सहकार की भूमिका तक भी नहीं पहुँच सका। हमारे नेताओं ने माना कि लोकतन्त्र की स्थापना के उद्देश्य की पूर्ति के लिए भी आजादी के लिए की गयी साधना काम आ जायगी। उन्होंने माना कि उसके लिए नयी साधना की आवश्यकता नहीं है। सरस्वती-पूजा के लिए प्रतिमा का निर्माण कर पूजा-समाप्ति के बाद उसी प्रतिमा से दुर्गा-पूजा का समाधान हो जायगा, ऐसा सोचना जिस तरह मन्दबुद्धि का परिचायक है, उसी प्रकार आजादी-प्राप्ति की प्रतिमा के सहारे लोकतन्त्र का भी अधिष्ठान हो जायगा, ऐसा सोचना अत्यन्त भ्रामक है। खरीदने के लिए पैसा-पैसा बटोरकर एक हजार रुपया खर्च करके घोड़ा खरीदा, तो उसी एक हजार रुपये में गाड़ी भी हो जायगी, यह सोचना कितना गलत है, यह तो बिल्कुल स्पष्ट ही है।

अगर हमें लोकतन्त्र कायम करना था, तो हमें उसके लिए नयी कीमत चुकानी थी और नयी साधना में लगना था। जनता को नये त्याग और तपस्या के लिए प्रेरित करना था। उसके लिए लोक-शिक्षण के काम में लगना था।

लेकिन दुर्भाग्य से ऐसा नहीं हुआ। देश आजाद होने पर हमारे नेताओं ने लोकतान्त्रिक संविधान बनाया है, जो जमाने के साथ चलने का सही निर्णय था। लेकिन उसके लिए लोक-शिक्षण का कोई कार्यक्रम नहीं रखा और न जन-अभिक्रम का कोई अवसर दिया। सामुदायिक विकास-योजना के लिए भी समुदाय निर्माण कर उसीके द्वारा उसका विकास हो, इसका खयाल किये बिना सरकारी विभाग द्वारा ही सब

काम होगा, ऐसा ही माना गया। देश के रचनात्मक कार्यकर्ता भी अपनी संस्थाओं की चहारदीवारी के अन्दर ही रचनात्मक कार्यक्रम करते रहे। इतना ही नहीं, आजादी के पहले जो सार्वजनिक संस्थाएँ जनता से चन्दा माँगकर सेवा-कार्य चलाती थीं, वे भी सरकारी अनुदान से चलने लगीं। अतः चन्दे के बहाने जो कुछ भी थोड़ी जिम्मेदारी जनता पर थी, उससे भी उन्हें मुक्त कर दिया।

भू-क्रान्ति तथा ग्रामस्वराज्य-आन्दोलन को भी हमने तन्त्रबद्ध तरीके से ही चलाया। यद्यपि हमने तात्विक दृष्टि से विनोबाजी के तन्त्र-मुक्ति के विचार को स्वीकार किया, हमने उस दिशा में अधिक ध्यान नहीं दिया। प्रयास करके असफल हुए, ऐसी बात भी नहीं है। बल्कि हमने प्रयास ही नहीं किया। जब हम ही मानते हैं कि तन्त्र और संस्था-शक्ति से ही काम चल सकता है, तब हम कैसे अपेक्षा कर सकते हैं कि साधारण जनता स्वतन्त्र लोक-शक्ति पर विश्वास रखे ? फलस्वरूप हजारों विचार तथा शिक्षा के बावजूद उनकी मान्यता आज यही है कि सर्वोदय का विचार तथा ग्रामस्वराज्य की योजना सही है, वांछनीय है तथा उपादेय है, लेकिन इसका इम्प्लिमेन्टेशन सर्वोदय नाम का डिपार्टमेण्ट करेगा, हमें इसमें कुछ करना नहीं है।

ऐसी परिस्थिति में हम लोग अपने आन्दोलन द्वारा लोकतान्त्रिक समाज की साधारण लोक-सहकार की भूमिका से भी आगे बढ़कर लोक की जिम्मेदारी, लोक का अभिक्रम तथा लोक-शक्ति के सहारे समाज का कामकाज चलता रहे, ऐसा चाहते हैं। अतः खूब गहराई से सोचना होगा कि हमें अपने आन्दोलन के लक्ष्य की भूमिका में कितनी सीढ़ियाँ पार करनी हैं।

यही कारण है कि गांधीजी स्वतन्त्रता-संग्राम के दिनों में ही हमेशा कहा करते थे कि अंग्रेजी राज्य का हटना स्वराज्य का पहला काम होगा। और आजादी के बाद स्वराज्य हासिल करने का काम शुरू होगा। उन्होंने स्वराज्य के संगठन के लिए रचनात्मक कार्यक्रम की जो

सूची दी थी, उसमें मतदाता-शिक्षण का एक महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम था। उनका चिन्तन मुख्य रूप से लोकतन्त्र के लिए नयी साधना शुरू करने की दिशा में ही चल रहा था। १९४४ में जेल से छूटने के तत्काल बाद उन्होंने चरखा संघ की सभा में स्पष्ट ऐलान कर दिया था कि अंग्रेज जा रहे हैं और अब सात लाख गाँवों में ग्रामस्वराज्य (विलेज रिपब्लिक्स) कायम करना है। इसलिए उन्होंने चरखा संघ को शून्य बनाकर सबको गाँव-गाँव में फैल जाने को कहा और तदर्थ देश के नौजवानों से अपील की कि सात लाख गाँवों में बैठने के लिए वे अपना जीवन समर्पित करें। वे जानते थे कि हजारों वर्षों से गुलामी से दबी हुई जनता को लोकसत्ता की भूमिका में प्रतिष्ठित करने के लिए इससे कम ताकत से काम नहीं चलेगा।

फिर जब अंग्रेज चले गये और गाधीजी इस दुनिया को छोड़कर जाने लगे, तब चलते-चलते भी कांग्रेस के लिए यह दस्तावेज वे छोड़ गये कि कांग्रेस ने अंग्रेज राज्य समाप्त करके एक बड़ा काम किया, लेकिन अब देश के सात लाख गाँवों में स्वराज्य कायम करने के लिए वह अपने को राजनैतिक पार्टी की हैसियत से विसर्जित कर लोकसेवक संघ के रूप में देशभर में फैल जाय। लोकतन्त्र का मूल तत्त्व लोक है। इसलिए गांधीजी ने कांग्रेस को लोकतन्त्र के नये लक्ष्य की प्राप्ति के लिए नया तप-त्याग करने का आवाहन किया। तन्त्र तो लोक द्वारा संस्थापित उसके हाथ का औजार है। निःसन्देह गाधीजी की इस निष्ठा ने ही उन्हें कांग्रेस के लिए ऐसा प्रस्ताव रखने को प्रेरित किया। लोकतन्त्र के पुजारी का चिन्तन हमेशा लोक-मूलक होता है, तन्त्र-मूलक नहीं।

दुर्भाग्य से देश के नेता और जनता ने गाधीजी की इस सलाह को नहीं माना। चरखा संघ और कांग्रेस दोनों ने ही उस प्रस्ताव की उपेक्षा की। चरखा संघ ने कम-से-कम प्रस्ताव को मौखिक स्वीकृति भी दी, अमल भले ही न किया हो। लेकिन नेतृत्व ने तो उसे अव्यावहारिक और अनुपयोगी ही माना। कांग्रेस के नेता सिद्धान्त की दृष्टि से लोकतन्त्र के

विचार को ही मानते थे। लेकिन उन्होंने यह नहीं समझा कि लोकतन्त्र लोक पर थोपा नहीं जा सकता, बल्कि उस लोक द्वारा निर्माण ही किया जा सकता है। और यह निर्माण का कार्य नेतृत्व द्वारा लोक-शिक्षण के लिए लोक में प्रवेश से ही हो सकता है।

जब देश के नेताओं को गांधीजी के आखिरी सन्देश की याद दिलाते हैं, तो वे कहते हैं कि देश की परिस्थिति ऐसी थी कि वे उसे स्वीकार नहीं कर सकते थे, अगर उस प्रस्ताव को स्वीकार करते, तो देश प्रतिक्रियावादी शक्तियों के हाथ में चला जाता। लेकिन वे नेता यह नहीं समझे कि प्रतिक्रियावादी शक्ति का मुकाबला जनता से छूटकर नेता केवल अपनी ताकत से कभी नहीं कर सकता। नेता की शक्ति जनता होती है, उसकी शक्ति लोक होता है, न कि तन्त्र। तन्त्र पर कब्जा नेता का नहीं होता है। उस पर वास्तविक कब्जा नौकरशाही का होता है और उसकी साँटगाँठ मे पूँजीपति का होता है। नेता की शक्ति तभी पनप सकती है, जब वे जनता में स्वाभिमान तथा सार्वभौम हस्ती की चेतना पैदा करके जनता में स्वतन्त्र शक्ति का निर्माण करते हैं। गांधीजी ने देश के नेतृत्व को इसी दिशा मे प्रेरित किया था।

लेकिन देश के नेताओं ने गांधीजी के इस संकेत को नहीं समझा और लोकतन्त्र के लोक में प्रवेश कर उसे पुष्ट किये बिना ही तन्त्र द्वारा लोक को संचालित करने का प्रयास किया। स्वाभाविक ही इस काम के लिए उन्हें तन्त्र में अवस्थित नौकरशाही, सैनिक तथा पूँजीपति का ही सहारा लेना पड़ा। फलस्वरूप वही शक्तियाँ नेताओं को शाइडिंग में डालकर देश पर हावी हो गयी हैं और जन-जीवन के शोषण और दमन से मुल्क को बेहाल कर दिया है।

अगर आजादी के उषःकाल मे ही अंग्रेजों के छोड़े हुए तन्त्र को औरों के हाथ में सौंपकर देश के वरिष्ठ नेता जन-जन में फैलकर नये त्याग और तपस्या के बल पर लोकतन्त्र के लोक को सुशिक्षित, सुसंगठित, शक्तिशाली बनाकर उन्हींके द्वारा लोकतन्त्र की इमारत को खड़ी

करते, तो आज स्वतन्त्र लोकशक्ति के मुकाबले उपर्युक्त प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ खड़ी नहीं हो सकती थीं।

विनोबाजी ने इस चूक को देखा था और यही कारण था कि जैसे ही सर्व-सेवा-संघ ने उनके द्वारा प्रतिपादित भूदान-यज्ञ-आन्दोलन को अपना लिया, वैसे ही उन्होंने आन्दोलन के लक्ष्य को स्पष्ट करना शुरू किया। १९५३ में चांडिल-सम्मेलन के अवसर पर उन्होंने गांधीजी के सर्वोदय के लक्ष्य की घोषणा कर दी। उन्होंने स्पष्ट कहा कि सर्वोदय का ध्येय दण्डशक्ति से भिन्न स्वतन्त्र लोकशक्ति खड़ी करने का है। क्योंकि केवल दण्डशक्ति के सहारे तो सैनिक तन्त्र ही चल सकता है, लोकतन्त्र नहीं।

आज कई लोग लोकतन्त्र को बचाने के लिए चिन्तित हैं। वे कह रहे हैं कि आज देश में लोकतन्त्र खत्म हो रहा है। लेकिन मैं पूछता हूँ कि लोकतन्त्र का जन्म ही कब हुआ है? जिस तन्त्र का निर्माण लोक-अभि-क्रम-निरपेक्ष तन्त्र की स्थापना से हुआ, उसे लोकतन्त्र कैसे कहा जायगा? शुरू में आजादी के लिए लड़नेवाली जमात के हाथ में वह तन्त्र रहा। फिर लोक-निरपेक्ष अनेक जमातों का निर्माण हुआ। आज भिन्न-भिन्न जमातों के सत्ता-संघर्षों के फलस्वरूप एक जमात के हाथ में तन्त्र का कब्जा है और उत्कट अधिनायकवादी पद्धति से वे उस कब्जे को बनाये हुए हैं।

अब कुछ लोग कहते हैं कि लोकतन्त्र की रक्षा विरोधी दल के रूप में उसी प्रकार की मजबूत जमातें खड़ी हों, तो लोकतन्त्र की रक्षा होगी। कुछ लोग कहते हैं कि न्यायपालिका मजबूत हो, तो लोकतन्त्र की रक्षा होगी। कुछ लोग कहते हैं कि अगर राष्ट्रपति और राज्यपाल मजबूत रहें, तो वे लोकतन्त्र की रक्षा कर सकते हैं। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि सर्वोदयवाले ही लोकतन्त्र को बचा सकेंगे।

लेकिन ये सब यह भूल जाते हैं कि तन्त्र के किसी पदाधिकारी या कब्जेदार जमात, या सर्वोदय-क्रान्ति करनेवाले कुछ थोड़े-से लोग कभी भी

लोकतन्त्र की रक्षा नहीं कर सकते। इतना ही नहीं, बल्कि देश के तमाम पक्षों के नेताओं की सम्मिलित शक्ति भी अगर साथ मिल जाय और वे सब मिलकर ऊपर-ऊपर से संवैधानिक और तन्त्र-आधारित प्रक्रिया से लोकतन्त्र को बचाने का प्रयास करें, तब भी वे सफल नहीं होंगे। यह बात निश्चित रूप से समझनी चाहिए, क्योंकि आज देश के सम्पूर्ण जीवन का सैनिक शक्ति, नौकरशाही की शक्ति, पूँजीपति की शक्ति तथा देहाती सामन्तवादी शक्तियों ने मिलकर इस कदर कब्जा कर रखा है कि देश के सभी नेता मिलकर भी अपनी ही ताकत से उनका मुकाबला नहीं कर सकते हैं। वे मुकाबला तभी कर सकते हैं, जब वे जनता को साथ लेकर उनके द्वारा समाज के भिन्न-भिन्न फंक्शनों को सम्पादित करवाकर उपर्युक्त गठबन्धन को जन-जीवन से अलग कर सकेंगे।

वस्तुतः हमारा ग्रामस्वराज्य-आन्दोलन इसी लक्ष्य को पूरा करने के लिए है। और व्यापक पैमाने पर ग्रामस्वराज्य-आन्दोलन की सफलता ही वर्तमान संकट का मुकाबला है। इस बात को हमें कभी भूलना नहीं है। आखिर लोकतन्त्र की रक्षा एकमात्र लोक ही कर सकता है। इसलिए अगर लोकतन्त्र की रक्षा करनी है, तो देश के तमाम वेस्ट टेलेन्ट्स को गाँव-गाँव में फैलकर, लोक के बीच बैठकर तथा घूमकर लोक-शिक्षण द्वारा लोकतन्त्र के लिए उन्हें प्रेरित करना होगा, उनमें से नेतृत्व निकालना होगा तथा उनके ही मार्फत पहल कराकर गांधीजी द्वारा परिकल्पित ओशनिक सर्किल के केन्द्र के रूप में ग्रामस्वराज्य की बुनियाद पर लोकतन्त्र की इमारत खड़ी करनी होगी। तब तक दिल मजबूत करके जो चल रहा है, उसे सहना होगा, भले ही कहीं कुछ पच्चर ठोंककर स्थानीय पैमाने पर कुछ अल्पकालिक राहत पहुँचाते रहें। मुख्य प्रयास यह करना होगा कि अत्यन्त शीघ्रता के साथ लोकतन्त्र के लोक का अधिष्ठान हो सके।

हमारे कुछ मित्र वैधानिक सुधार के काम में लगना चाहते हैं। उनको समझना होगा कि जितना विधान में सुधार कीजिये, उसके

परिणाम से शासनमुक्त या सरकारमुक्त गाँव का अधिष्ठान नहीं हो सकता है। उसके परिणाम से सुराज भले ही हो जाय, स्वराज्य नहीं हो सकता है। अगर सर्वोदय-क्रान्ति का लक्ष्य शासनमुक्त और शोषणहीन समाज की रचना है, तो इस क्रान्ति के वाहक को उसी तरह एकाग्रता के साथ ग्रामदान और ग्रामस्वराज्य के काम में लगना होगा, जिस तरह अर्जुन ने लक्ष्यभेद के लिए चिड़िया की एकमात्र आँख को देखने का प्रयास किया था।

यह बात मैंने क्रान्ति के सन्दर्भ में कही है। लेकिन अगर कोई अपने को केवल ग्रामस्वराज्य का वाहक नहीं मानते हैं, या यह मानते हैं कि ग्रामस्वराज्य की क्रान्ति के लिए ही परिकल्पित वैधानिक सुधारवाद आवश्यक है, तो भी उन्हें अपने काम के लिए व्यावहारिक पहलुओं पर ध्यान देना होगा। हम कहते हैं कि हमे मतदाता-मण्डल बनाना है। उसकी प्रक्रिया में हम इस बात की कल्पना करते हैं कि पूरे कॉन्स्टिट्यूएन्सी के हर गाँव में सर्वसम्मति से चुने गये उम्मीदवार चुनाव में खड़े हों। अर्थात् पूरे क्षेत्र की सर्वसम्मति तब तक कायम रहे, जब तक चुनाव समाप्त न हो जाय, यानी सर्वसम्मति की स्थिति करीब-करीब स्थायी हो।

अब सोचना यह है कि हम लोगों ने जो ग्रामस्वराज्य का कार्यक्रम बनाया है, उसको पूरा सफल किये बिना उपर्युक्त परिस्थिति का निर्माण सम्भव है क्या ? ग्रामदान-दृष्टि की पूर्णता तथा ग्रामस्वराज्य की कम-से-कम अर्ध सफलता के बाद ही सर्व-सेवा-संघ द्वारा परिकल्पित वैधानिक सुधार का कार्यक्रम शुरू हो सकता है। उसके पहले ग्रामस्वराज्य के कार्यक्रम के साथ जनता के सामने एक कल्पना ही रखी जा सकती है। इस बीच सुनियोजित कार्यक्रम चलाने का अवसर या परिस्थिति नहीं है, ऐसा मानना चाहिए।

४. आज की समस्याओं की जड़

आज देश की परिस्थिति ऐसी संकटपूर्ण बन गयी है कि सामाजिक भावनावाले सभी पार्टी के मित्र तथा हम खुद बेहद परेशान हैं। देश में भुखमरी, गरीबी, बेकारी, महँगाई, नौकरशाही का आतंक, संविधान के निर्देशक सिद्धान्तों की अवहेलना, व्यापक भ्रष्टाचार आदि बातों से हम चिन्तित रहते हैं। हम लोग बैठक करते है, सम्मेलन करते है, गोष्ठी करते हैं और इन बैठकों में अत्यन्त परेशानी के साथ चिन्तित होते है कि देश की इस विकट परिस्थिति का सामना कैसे किया जाय। लेकिन जरा गहराई के साथ सोचना पड़ेगा कि आखिर यह संकट पैदा क्यों हुआ ?

शरीर जब दुर्बल हो जाता है, उसे अनेक रोग घेर लेते हैं। आज हमारे देश का राष्ट्रीय जीवन दुर्बल हो गया है। उसीका परिणाम है कि हम अनेक रोगों से ग्रसित हो गये हैं। शरीर दुर्बल होता है अनुकूल और संतुलित पोषण के अभाव में। हमारे राष्ट्र को भी उसका अभाव रहा है, यह बात समझनी चाहिए। आज देश का सबसे बड़ा दुर्भाग्य है कि राष्ट्रीय जीवन किसी निश्चित वैचारिक सिद्धान्त के अनुसार संगठित नहीं है। किसी निश्चित वैचारिक सिद्धान्त का आधार किसी भी राष्ट्रीय जीवन का प्राण होता है। एक प्राणहीन राष्ट्र अगर कमजोर होकर अनेक रोगों से ग्रसित हो गया है, तो उसमे आश्चर्य की कौन सी बात है ?

हमें यह समझना होगा कि आज के समाज की जो उत्कट समस्याएँ हैं, चाहे वह अनाज की समस्या हो या तानाशाही की समस्या, कोई आकस्मिक दैवी दुर्घटना नहीं है। वह पचीस साल से लगातार लोकतन्त्र के लोक की उपेक्षा का परिणाम है। वह लोक की उपेक्षा कर केन्द्रवादी राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्था चलाने का प्रतिफल है।

कहते हैं कि अनाज की समस्या है। और साथ ही यह भी कहा जा रहा है कि गत वर्ष की अपेक्षा इस वर्ष अनाज का उत्पादन अधिक है। तब फिर वह अनाज गया कहाँ? इस प्रश्न पर किसको यह मालूम नहीं है कि अनाज देश में मौजूद है, लेकिन जमीन के नीचे दबा हुआ है? ऐसा क्यों हो रहा है?

अनाज देश के गाँवों में ही पैदा होता है, जहाँ देश की अस्सी प्रतिशत आबादी रहती है। लेकिन आज इन गाँवों का कोई सचेतन अस्तित्व नहीं है। पुराने जमाने में हमारे यहाँ गाँव एक इकाई था। वहाँ सामुदायिक कर्तव्य था, क्रियाशीलता थी। यद्यपि वह अत्यन्त स्थानीय था, फिर भी उसका सचेतन अस्तित्व था।

अंग्रेजों ने इस पद्धति को बेरहमी के साथ तोड़ डाला। उन लोगों का अन्तिम लक्ष्य हुकूमत करना नहीं था, मुल्क का शोषण करना था। इसीलिए उन्होंने ग्रामीण स्वतन्त्रता को तोड़कर गाँव को भी अपने केन्द्रीय राज्य में समा लिया। कल्याणकारी राज्यवाद के नाम से जनता को अपनी समस्या के लिए चिन्तन तथा अभिक्रम के अवसर से मुक्त कर दिया। क्योंकि ऐसा किये बिना पूरे समाज का शोषण सम्भव नहीं था। अर्थात् जैसा विनोबा कहते हैं कि पठान और मुगलों के राज में देश गुलाम और गाँव आजाद था, अंग्रेजी राज में देश के साथ गाँव भी गुलाम हो गया।

इस तरह अंग्रेजों ने हर व्यक्ति को अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए सरकार के साथ जोड़ दिया और गाँव के बड़े लोगों की जमात को सरकारी फरमान का एजेन्ट बना लिया। उनको अंग्रेजों ने अपनी शोषण-पूर्ति के लिए सामान्य जन के अमर्यादित शोषण की छूट दे दी। फलस्वरूप आज गाँव कोई गाँव नहीं रह गया। वह एक जंगल बनकर रह गया है। जंगल में जैसे हर जानवर अपना ही अलग-अलग जीवन जीता है और जीने के प्रयास में अपने से छोटे को खा जाता है, इसी

तरह गाँव के लोग गाँव में अकेले-अकेले ही जी रहे हैं और इस जीने के प्रयास में अपने से छोटे को खा जाते हैं।

अंग्रेजों के चले जाने के बाद हमने ग्रामीण समाज का पुनर्निर्माण का प्रयास नहीं किया, बल्कि व्यक्तिगत जीवन-संघर्ष में लगे हुए मनुष्यों को राहतवादी कल्याण-योजना के माध्यम से ऊपर उठाने की कोशिश की। फलस्वरूप गाँव नहीं उठा, बल्कि अंग्रेजों के जमाने में गाँव गाँव में जो सरकारी एजेन्ट थे, वे ही अधिक शक्तिशाली बनते गये। क्योंकि लोक को छोड़कर तन्त्र द्वारा जो भी काम होगा, उसका कब्जा उन्हींको मिलेगा, जो सरकारी जन के रूप में पहले से बैठे हुए हैं, सामान्य जन को नहीं।

उपरान्त हमने आजाद होने पर अंग्रेजों द्वारा चलायी हुई पद्धति ही अपना ली, ग्रामसमाज का अपना कोई स्वतन्त्र फंक्शन बनाने का प्रयास नहीं किया। तब ग्रामीण जन द्वारा पैदा किये गये अनाज को स्वाभाविक रूप से बाजार में ही पहुँचना था, इसका कब्जा पूँजीपति का हमेशा रहा है। केवल अनाज ही नहीं, आवश्यक सामग्री भी उसी वर्ग के पास पहुँचना लाजिमी था। पूँजीपति-वर्ग ने जब यह देखा कि देश की जनता असंगठित, असहाय है और नेता की शक्ति जनता नहीं, केवल नौकरशाही है, तो उसने नौकरशाही को खरीदकर तथा अपने साथ मिलाकर मुल्क पर आसानी से कब्जा कर लिया।

अब ऐसी परिस्थिति में देश के नेताओं ने समाजवाद का नारा बुलन्द किया। धीरे-धीरे सभी पार्टियाँ समाजवाद की बात करने लगीं। समाजवाद का प्रचलित अर्थ है, जनता की आवश्यक सामग्री तथा उत्पादन का साधन पूँजीपति के हाथ से सरकार के हाथ में चला जाय, जिसे आज के राजनीति शास्त्र में राष्ट्रीकरण की संज्ञा दी गयी है। ग्रामीण समाज को सचेतन, संगठित और सक्रिय किये बिना देश की व्यवस्था अगर चलती है, तो यह अनिवार्य है कि व्यवस्था पूँजीपति या सरकार के हाथ में रहे।

आज देश में जो परिस्थिति है, वह क्या है ? वस्तुतः मनुष्य का जीवन जनता की प्रत्यक्ष व्यवस्था में रहेगा, या इन दो बड़े राक्षसों में से किसी एक के हाथ में रहेगा ? इसीका निर्णय करना है। हम लोग आज जो संकट देख रहे हैं, वह इनमें से किसके हाथ में रहे, उसके फैसले का संकट है। हमारा जो आन्दोलन है, वह मनुष्य का जीवन जनता की प्रत्यक्ष व्यवस्था में रखने का संघर्ष है। और आज जो हो रहा है, वह पूँजीपति और सरकारवाद के बीच का संघर्ष है।

पूँजीपति-वर्ग नौकरशाही को खरीदकर जन-जीवन के उत्कट शोषण के परिणामस्वरूप जब मुनाफाखोरी, जमाखोरी आदि हरकतों से देश की जनता को त्रस्त करने लगा, तो मुल्क के हर क्षेत्र के नेता और जनता ने शिकायत करनी शुरू की कि सरकार उन्हें सँभालती नहीं है। आधुनिक राजनीति-शास्त्र में सरकार द्वारा पूँजीपति-वर्ग की मुनाफाखोरी आदि हरकतों को रोकने का अर्थ राष्ट्रीकरण ही होता है।

अब समझना चाहिए कि जब कुछ वर्ग के गठबन्धन ने सम्पूर्ण राष्ट्र-जीवन पर कब्जा कर रखा है, तब सरकार अगर उस कब्जे को बेदखल करने का प्रयास करेगी, तो कब्जेदार की तरफ से विरोध होगा ही और वह अपने अस्तित्व के लिए अन्तिम संघर्ष में लग जायगा। आज जब सरकार वही करने लगी है, तो यह स्वाभाविक है कि पूँजीपति, भूमिपति तथा नौकरशाही मिलकर सारे अनाज को भूमिगत कर तथा चोरी से बाहर भेजकर उसका मुकाबला करते।

यह सही है कि इस संघर्ष में देश की गरीब जनता पिस रही है। लेकिन इतिहास साक्षी है कि कब्जे के लिए संघर्षरत पक्ष को इसकी चिन्ता नहीं रहती है कि उसके संघर्ष की प्रक्रिया के कारण जनता के कितने लोग पिस रहे हैं। उसके सामने हार-जीत के सिवा दूसरी कोई दृष्टि नहीं होती है। इसलिए हम आज देख रहे हैं कि जनता के लिए तकलीफ का खयाल न सरकारी तन्त्र कर रहा है और न पूँजीपति-सामन्तवादी गुट ही कर रहा है।

वस्तुतः परिस्थिति पर गहराई से विचार करेंगे, तो स्पष्ट होगा कि वर्तमान संकट का कारण यह है कि नौकरशाही, पूँजीपति और दूसरी प्रतिक्रियावादी शक्तियों ने देश के जन-जीवन पर अत्यन्त कड़ाई के साथ कब्जा कर रखा है। हमारा यह मानना है कि ये सारी समस्याएँ लम्बे अरसे से चलती आ रही गलत सामाजिक और आर्थिक नीतियों का परिणाम है, जिसका निराकरण जनता की जागरूकता और संगठित शक्ति पर निर्भर है। हमारा यह भी मानना है कि हमने सर्वोदय-आन्दोलन से व्यापक लोकशिक्षण द्वारा लोकशक्ति जागृत करने का जो काम उठाया है, वह सही दिशा में उठाया गया कदम है।

अतएव आज संकट की परिस्थिति का मुकाबला करना है, तो दिल को मजबूत करके गांधीजी के जिस संकेत को राष्ट्र ने उदासीनता के साथ छोड़ दिया था, उसीको हम सबको मिलकर पकड़ना होगा और उसके जरिये यदि हम लोग जनता को उपर्युक्त गठबन्धन की मुट्ठी में से बाहर निकाल सकें, तभी समस्या का हल हो सकेगा। घबड़ाकर, छटपटाकर, इधर-उधर दौड़कर, फुटकर प्रसंगों को सँभालने के प्रयास से समस्या का एक इंच भी हल होनेवाला नहीं है। सर्वोदय-समाज के मित्रों से हमारा निवेदन है कि कम से-कम वे इन फुटकर प्रयासों को छोड़कर *ग्रामस्वराज्य की स्थापना के मूल प्रयास में तेजी से लग जायँ।*

५. क्रान्ति-कार्य का ध्रुपद

एक बात हमें खास ध्यान में रखनी चाहिए कि किसी आन्दोलन के मुख्य विचार के प्रति ध्यान केन्द्रित किये बिना ही आन्दोलन के प्रसार में गति लाने के मोह में अगर हम किसी दूसरी समस्या को आधार मानकर मुख्य प्रेरणा का निर्माण करेंगे, तो आन्दोलन दिशाभ्रष्ट होकर मूल क्रान्ति को ही छोड़ देगा। इसलिए हमें अपनी क्रान्ति के केन्द्रीय इश्यू पर ही

जनता का ध्यान केन्द्रित करना चाहिए, न कि भिन्न-भिन्न इश्यू पर। हम अपनी गतिविधि को यदि बिखेरेंगे, तो हमारी क्रान्ति बहक जायगी।

मेरे कहने का अर्थ यह नहीं है कि किसी क्रान्ति के साथ विविध कार्यों को न जोड़ा जाय। मैं सिर्फ इतना ही कहना चाहता हूँ कि हमारे कार्य की दृष्टि तथा पद्धति ऐसी होनी चाहिए, जो क्रान्ति-विचार पर जनमानस को निरन्तर केन्द्रित रख सके।

स्वतन्त्रता-संग्राम कोई क्रान्ति नहीं था, वह केवल एक युद्ध था। उन दिनों भी गांधीजी ने देश को अनेक रचनात्मक कार्यों में लगाया था। लेकिन उन्होंने कांग्रेस को उन्हीं कामों तक मर्यादित रखा, जो वस्तुतः क्रान्ति-कार्य रहे हैं। उन्होंने कांग्रेस के मातहत तथा उसके ही प्रस्ताव द्वारा चरखा संघ, ग्रामोद्योग संघ तथा तालीमी संघ के रूप में केवल *उन्हीं कार्यक्रमों को चलाया, जो प्रत्यक्ष क्रान्ति के वाहन थे। लेकिन* हरिजन-सेवा-कार्य, गो-सेवा-कार्य और ऐसे अनेक रचनात्मक कार्यों को कांग्रेस के बाहर के देशसेवकों के हाथ में छोड़ दिया। ये काम देश के लिए अत्यन्त आवश्यक तथा अनिवार्य थे। लेकिन चूँकि वे प्रत्यक्ष रूप से क्रान्ति के वाहक नहीं थे, इसलिए उनकी जिम्मेदारी कांग्रेसजनों पर नहीं रखी। क्योंकि उन्हें कांग्रेस की शक्ति और दृष्टि को विदेशी राज्य हटाने तथा अपनी कल्पना की क्रान्ति-पूर्व-तैयारी पर ही केन्द्रित रखना था।

एक और उदाहरण दूँ। सर सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी तथा उनके सम-सामयिक नेताओं ने १९१९ के अंग्रेजी संविधान के अनुसार मन्त्रिमण्डल गठित किया था। लेकिन इस काम ने जनमानस में आजादी के सन्दर्भ में किसी किस्म का प्रभाव-संचार नहीं किया, क्योंकि उन्होंने विदेशी सरकार द्वारा प्रस्तुत संविधान के अनुसार यह काम किया था। अर्थात् अंग्रेजी राज्य के कार्यक्रम में ही वे शामिल हो गये थे। लेकिन गांधीजी ने १९३५ के संविधान के आधार पर मन्त्रिमण्डल गठन के लिए, छोटी-सी ही सही, अंग्रेजी शासन से मुक्ति की शर्त डाल दी थी। इस बात पर

शायद देश का ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ था। वह शर्त यह थी कि अंग्रेजी राज्य द्वारा नियुक्त गवर्नर मन्त्रिमण्डल के दैनिक काम में हस्तक्षेप नहीं कर सकते हैं। इस छोटी-सी शर्त से उन्होंने मन्त्रिमण्डल के कार्य को अंग्रेजी-शासन-निरपेक्ष बना दिया, जिसका भान सर सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी आदि नेताओं को नहीं था।

इसी तरह हमें अगर विविध काम करने भी हैं, तो उन्हें क्रान्ति-विचार के समवाय में करना होगा, न कि यह सोचकर कि इस प्रकार के काम करते रहने से उस कार्यक्रम के समवाय में क्रान्ति-विचार का उद्‌बोधन हो ही जायगा। मैं कभी-कभी देखता हूँ कि हम सर्वोदय-आन्दोलन के साथ ही संसार के तमाम तात्कालिक प्रश्नों पर तो ध्यान देते हैं, लेकिन इस मुख्य बात पर से ध्यान हट जाता है। अतएव दुनिया में जितने सत्कार्य होते हैं, उन पर अलग-अलग प्रकार से बारीकी के साथ सोचने की जरूरत है।

एक भय मैं यह भी देख रहा हूँ कि कहीं-कहीं केवल गरीबी का निराकरण, आर्थिक विकास आदि प्रवृत्तियों पर हमारी शक्ति केन्द्रित हो रही है। हालाँकि किसी भी क्रान्ति में गरीबी का निराकरण तथा आर्थिक विकास अन्तर्निहित रहना चाहिए। जिस क्रान्ति मे ये दोनों बातें शामिल नहीं रहती हैं, वह विचार चाहे जितनी उच्च कोटि का हो, सामान्य जन को प्रभावित नहीं कर सकता। इसलिए अगर क्रान्ति को जन-सामान्य में निखारना है, तो ये दोनों बातें उसमे से निकलनी चाहिए, यह स्पष्ट है।

लेकिन अन्याय, अभाव और अज्ञान का निराकरण तथा समाज का आर्थिक विकास उसकी स्वतन्त्र प्रेरणा के आधार पर या क्रान्ति विचार के परिणामस्वरूप होना चाहिए। यह मुख्य प्रश्न है। हमारे साथियों को यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि हमारा मुख्य काम क्रान्ति-विचार का परिवेश निर्माण करना है, जिसके फलस्वरूप जनता के जीवन से अन्याय, अज्ञान आदि का निराकरण तथा आर्थिक विकास का

उद्बोधन हो सके, ताकि उपर्युक्त प्रवृत्ति वर्ग-विशेष के लिए अलग-अलग आकर्षण न होकर पूरे समाज के लिए आकर्षण का विषय बने।

उदाहरणस्वरूप फ्रान्स की लोकतान्त्रिक क्रान्ति और रूस की समाजवादी क्रान्ति को देखें। दोनों क्रान्तियों में जनशक्ति के संग्रह के लिए लोकतन्त्र और समाजवाद के विचार के उद्बोधन को उतना महत्त्व नहीं दिया गया था, जितना कि सम्राट् लुई और सम्राट् जार के अत्याचार से मुक्ति को। उसी तरह यदि हम अपनी क्रान्ति का मूल प्रेरणा-स्रोत ग्रामस्वराज्य के लिए ग्राम-परिवार-निर्माण को न बनाकर भूमिहीनों द्वारा भूमि की माँग को बनायेंगे, तो सर्वोदय की क्रान्ति केवल सामाजिक न्याय के अधिष्ठान के लिए एक सामाजिक आन्दोलन मात्र बनकर रह जायगी।

यहाँ कुछ लोग यह कह सकते हैं कि विनोबाजी ने भी क्रान्ति के प्रथम चरण में मिल्कियत-विसर्जन की बात सीधे न कहकर भूदान-आन्दोलन चलाने का ही काम किया और बाद में ग्रामदान का उद्घोष किया। अर्थात् उन्होंने शुरू में राहत का काम करके जनता का ध्यान आकृष्ट किया और फिर क्रान्ति का उद्घोष किया। लेकिन अगर गहराई से देखेंगे, तो पता चलेगा कि उन्होंने भूदान का काम गरीबों की गरीबी मिटाने की दृष्टि से, यानी राहत की दृष्टि से, नहीं किया था। उन्होंने शुरू से ही 'सबै भूमि गोपाल की' का नारा देकर ग्रामदान के विचार को प्रतिपादित कर दिया था।

तदुपरान्त उस समय हमारा मुख्य ध्यान भूदान पर था, फिर भी समझना चाहिए कि विनोबाजी का भूदान केवल राहत का काम न था, बल्कि क्रान्ति का था। जमीन के वितरण का काम पहले भी अनेक देशों और राज्यों में हुआ था। लेकिन उन देशों में और हमारे देश में भी पहले यही मान्यता रही थी कि यह काम कानून से या कत्ल से ही हो सकता है, यानी बन्दूक-शक्ति या उस पर आधारित राज्य-शक्ति से ही हो सकता है। विनोबाजी ने इस मान्यता का उद्घोष किया कि

यह काम भूदान-आन्दोलन के द्वारा पुरानी मान्यताओं को बदलकर सम्मति-शक्ति से ही होना चाहिए।

सन् १९५६ तक सामाजिक समस्याओं का समाधान सम्मति-शक्ति से हो सकता है, इसकी सम्भावना विनोबाजी ने प्रकट कर दी थी। और इस तरह जब सम्मति-शक्ति की सम्भावना प्रकट हो गयी, तो उन्होंने भूदान से आगे बढ़कर ग्रामदान की दिशा में कदम उठाया। उसके बाद उन्होंने भूदान पर से अपना ध्यान हटाकर ग्रामदान पर केन्द्रित किया। उन्होंने ग्रामदान के लिए केवल अपने को ही एकाग्र नहीं किया, बल्कि अपने सभी साथियों को ऐसा करने का संकेत दिया।

अब चूँकि विकास का काम, सो भी परम्परागत पद्धति से किया जानेवाला काम, किसी भी रूप में क्रान्तिकारी काम नहीं है, इसलिए हम भूदान से आगे बढ़कर, ग्रामस्वराज्य की ओर जनता की दृष्टि केन्द्रित करना चाहते हैं। यह सही है कि किसी भी क्रान्ति-कार्य के साथ-साथ कुछ राहत का काम भी होना जरूरी है। केवल क्रान्ति-विचार फैलाकर जनमानस का ध्यान सातत्य के साथ क्रान्ति-विचार की ओर आकृष्ट करना कठिन होता है। लेकिन यह राहत का काम भी क्रान्ति की पद्धति से होना चाहिए। ऐसा न हो कि परम्परागत, प्रचलित पद्धति को ही क्रान्तिकारी अपने हाथों में उठा ले।

विनोबा ने भूदान यज्ञ से राहत का काम अवश्य किया, लेकिन परम्परागत पद्धति से अर्थात् कानून या कत्ल से नहीं किया। आजादी की लड़ाई के जमाने में भी कांग्रेस ने बिहार के भूकम्प के समय में, बंगाल के बाढ़-पीड़ित क्षेत्रों में तथा अन्य अनेक क्षेत्रों में राहत का काम किया था। लेकिन यह सारा काम देश की जनता की अपनी शक्ति से किया था, न कि उस राज्य-शक्ति के सहारे, जिसके विघटन के लिए कांग्रेस ने आन्दोलन छेड़ा था। अर्थात् सारा राहत का काम 'माई बाप अंग्रेजी राज्य ही कर सकता है, जनता की स्वतन्त्र शक्ति नहीं', जनता की इस मान्यता को तोड़ने की दिशा में था।

जिस समय विनोबाजी ने राष्ट्र का ध्यान भूमि-समस्या की ओर खींचा था, उस समय किसीकी दृष्टि जमीन के इस मुख्य प्रश्न पर नहीं थी। इतना ही नहीं, बल्कि पक्षों के नेता तथा अर्थशास्त्र के पण्डित यही कहते रहे थे कि भूदान से जमीन बँटकर छोटे टुकड़ों में बिखर जायगी और देश के अन्न-उत्पादन में बाधा पहुँचेगी। लेकिन विनोबाजी के सातत्य के साथ सबके मानस को इस ओर आकर्षित करते रहने के कारण तथा देश की समस्या के बारे में सही एहसास होने के कारण आज सब लोग जमीन बाँटने की बात कर रहे है। अर्थात् हम लोगों ने इस प्रश्न पर समाज की मान्यता को प्रभावित कर लिया है। इसके फलस्वरूप आज अब सब लोग इस दिशा में सचेष्ट हैं।

विनोबाजी ने इस परिस्थिति को देख लिया है और इसीलिए वे सन् १९५७ से बराबर ग्रामदान और ग्रामस्वराज्य पर ही अपने समस्त साथियों का ध्यान केन्द्रित करने का प्रयास कर रहे हैं।

जिस तरह उभार, विद्रोह, युद्ध और क्रान्ति अलग-अलग चीज होती है, उसी तरह पुण्य-कार्य, मुक्ति कार्य तथा क्रान्ति-कार्य अलग-अलग कार्य होते हैं। यद्यपि तीनों कार्य वाछनीय, आवश्यक और उपादेय है। गरीबों को राहत पहुँचाना, चाहे वह तात्कालिक या स्थायी रूप में हो, पुण्य कार्य है। इस पुण्य कार्य के साथ सामाजिक पद्धति का कोई सम्बन्ध नहीं है। कोई भी मनुष्य चाहे वह राजतन्त्र, सैनिक तन्त्र, फैसिस्ट तन्त्र, कम्युनिस्ट तन्त्र, हिन्दू या मुस्लिम तन्त्र आदि किसी प्रकार के तन्त्र को माननेवाला हो, उसके लिए पुण्य कार्य हमेशा वाछनीय, उपादेय और आवश्यक होता है। यह मान्यता सनातन काल से चली आ रही है। ये सब काम किसी प्रकार की विशिष्ट क्रान्ति के विचार के साथ जुड़े हुए नहीं हैं। इसलिए, इन कामों में लगा रहना सर्वोदय की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक क्रान्ति में लगा रहना है, यह सोचना गलत है। यह सब काम अच्छे हैं, समाज-सेवा के काम हैं। लेकिन ये काम क्रान्ति-कार्य में लगे लोगों के लिए मात्र प्रासंगिक कार्य हो सकते हैं।

अन्याय का प्रतिकार, अभाव तथा अज्ञान का निराकरण आदि कार्य मुक्ति-कार्य में शामिल होते हैं। अमेरिका के मार्टिन लूथर किंग ने नीग्रो लोगों के प्रति होनेवाले अन्याय और अत्याचार से मुक्ति का जो आन्दोलन चलाया था, वह क्रान्ति कार्य नहीं, मुक्ति-कार्य था। किसी देश, जाति, वर्ग या व्यक्ति द्वारा अपने को स्वतन्त्र करने का आन्दोलन मुक्ति-कार्य है। यह मुक्ति की प्रेरणा सनातन काल से विवेकशील व्यक्ति विश्व-जनों को देते रहे हैं। किसी देश या युग में यह विचार प्रचलित नहीं रहा कि अन्याय, अत्याचार, अज्ञान आदि समाज की वाछनीय वृत्तियाँ हैं। उन्हें हमेशा अनुचित और अन्यायपूर्ण ही माना गया है और उनसे मुक्ति की प्रेरणा सनातन काल से ही समाज को मिलती रही है। अतः हम लोगों को यह समझना चाहिए कि उपर्युक्त कार्य देश और काल की विशिष्ट परिस्थिति के कारण तात्कालिक रूप से आवश्यक होने पर भी मुक्ति-कार्य ही है, क्रान्ति-कार्य नहीं, यद्यपि इसी देश के लिए किसी कालविशेष में वह कार्य सार्वजनिक रूप से आवश्यक हो सकता है और उस काल में उसीमें लगना देश के सभी लोगों का धर्म बन सकता है।

उदाहरणस्वरूप, भारतीय स्वतन्त्रता का संग्राम एक समय में देश के सभी लोगों के लिए एकाग्र चिन्तन और कार्य का विषय रहा है। लेकिन वह क्रान्ति-कार्य नहीं था, वह युद्ध था, क्रान्ति नहीं, वह मुक्ति-कार्य था, क्रान्ति नहीं।

तब यह प्रश्न किया जा सकता है कि मैं क्रान्ति-कार्य किसे कहता हूँ। क्रान्ति उसे कहते हैं, जिसमें प्रचलित मूल्यों, मान्यताओं और पद्धतियों को बदलकर नये मूल्यों, नयी मान्यताओं, नयी पद्धतियों की स्थापना का प्रयास होता है। अति प्राचीन काल से दण्ड शक्ति पर आधारित राज्यसंस्था द्वारा समाज चले, यह युग के समाजशास्त्रियों की मान्यता रही है। उसी तरह इतिहास के आदिम युग से मनुष्य ने माना है कि जनता हमेशा केन्द्रीय शक्ति द्वारा संचालित और शासित रहे, ताकि

समाज में शान्ति तथा शृंखला कायम रहे। हमेशा से यह मान्यता रही है कि किसी महान् व्यक्ति, कल्याण-संस्था, सेवा-संस्था या धर्म-संस्था द्वारा जनता की सेवा या कल्याण का काम सधता रहेगा।

अगर समाज में ऐसा कोई आन्दोलन खड़ा होता है, जिसका लक्ष्य दण्ड शक्ति यानी सैनिक शक्ति तथा संचालन-पद्धति को बदलकर नयी शक्ति तथा नयी पद्धति खड़ी करनी है, तो वह क्रान्ति-कार्य है। अर्थात् जिस परम्परा, पद्धति, मूल्य तथा मान्यता के लिए सार्वजनिक अनुमति है या सर्वजन जिस मान्यता को वांछनीय, आवश्यक तथा उपादेय मानते हैं, वही अगर किसी युग में अवांछनीय तथा अनिष्टकर हो जाती है और कुछ लोग इस वास्तविकता को समझकर पुरानी मान्यताओं के बदले नया विकल्प प्रस्तुत करते हैं, तो यह क्रान्ति-कार्य है।

हम लोग आज उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार क्रान्ति-कार्य में लगे हुए हैं, क्योंकि हम दण्ड-शक्ति के बदले सम्मति-शक्ति को समाज का अधिष्ठान बनाना चाहते हैं, सैनिक शासन के स्थान पर विचार-शासन की स्थापना करना चाहते हैं और संचालित समाज के स्थान पर सहकारी समाज बनाना चाहते हैं। हम चाहते हैं कि अब तक समाज के जो भिन्न-भिन्न कृत्य (फंक्शन) भिन्न-भिन्न व्यक्तियों या संस्थाओं द्वारा संचालित होते रहे हैं, उनका संचालन समाज खुद करे। अर्थात् हम चाहते हैं कि व्यक्तिवाद और संस्थावाद समाप्त हो और उसके स्थान पर समाजवाद की स्थापना हो। तो, हमें इस क्रान्ति के लिए एकाग्र होकर काम करना होगा। अपने को अनेकाग्रता के मोह से मुक्त रखना होगा।

यही कारण है कि विनोबाजी प्रारम्भ से ही कहते आये हैं कि हमारा ध्यान ग्रामदान और ग्रामस्वराज्य के केन्द्र-बिन्दु पर केन्द्रित होना चाहिए, न कि अनेक प्रकार के धन्धों में अपने को उलझा लेना चाहिए। वे प्रारम्भ से ही कहते रहे हैं कि निर्माण का काम हमारा नहीं है, बल्कि कल्याणकारी सरकार तथा कल्याणकारी संस्थाओं का है। क्रान्ति-दर्शन के अनुसार वे इस बात का आग्रह करते रहे हैं कि 'एकहि साधे सब

सधे।' वे कहते रहे हैं कि परम्परागत पद्धति और मान्यता के अनुसार समाज चलता रहे और हम चाहें कि उन मान्यताओं के परिणामस्वरूप समाज में जिन विकृतियों का संगठन हुआ है उनका निराकरण हो जाय, तो यह समझना भ्रम है। सामाजिक मान्यता पूर्ववत् कायम रहते हुए किसी एक अंग का सुधार हो, यह सम्भव नहीं है। इस तथ्य का स्पष्ट उदाहरण देश में नयी तालीम की असफलता है।

इसलिए यह बात हमें बराबर याद रहनी चाहिए कि हमारा मिशन और हमारी क्रान्ति ग्रामीण समाज की अन्तर्निहित शक्ति द्वारा हर गाँव में स्वतन्त्र गणराज्य की स्थापना है। आज दुनिया की मान्यता पूर्ण विकसित तथा कुशल राज्यवाद की है, न कि राज्य-निरपेक्ष स्वतन्त्र ग्रामस्वराज्य की। जमीन बँटनी चाहिए, शोषण मे से मुक्ति होनी चाहिए, अन्याय का निवारण होना चाहिए वगैरह तो सब मानते हैं, कहते हैं और उसके लिए प्रयास करना चाहते हैं, लेकिन सरकारमुक्त गांव और पक्षमुक्त सरकार की बात न कोई दूसरा मानता है और न उसके लिए प्रयास ही करना चाहता है। यह काम हम लोगों का है और हमारी क्रान्ति इसीलिए है।

उपयोग की सामग्री सबके बीच समान रूप से वितरित हो, किसीके लिए पक्षपात न हो, बाजार की वितरण-व्यवस्था सबके लिए समरूप से हो, यह आज सब चाहते हैं। लेकिन हर ग्रामीण समाज बाजार-मुक्त हो, समाज के नित्य जीवन में बाजार का प्रवेश न हो, यह बात आज अर्थशास्त्रियों में कोई नहीं कहता है। सर्वोदय-क्रान्ति का यह विशिष्ट उद्घोष है।

अतः मैं सर्वोदय-समाज के समस्त मित्रों को बार-बार कहता रहता हूँ कि वे अपनी शक्ति को इधर-उधर की बातो में न बिखेरकर ग्राम-स्वराज्य यानी सरकार और बाजार-मुक्त समाज की स्थापना पर सारी शक्ति केन्द्रित करे, किसी क्षेत्र मे बैठकर उसकी सभावना प्रकट करे और देश-दुनिया का दिशा-दर्शन करें।

८. संघर्ष नहीं, सम्मिलन

ग्रामस्वराज्य आन्दोलन से हम चाहते हैं कि गाँव में एक समन्वित समाज बने, जो समाज गाँव के सर्वजन को स्नेह-सूत्र में बाँध सके। इसीको विनोबाजी ग्राम-परिवार कहते हैं। लेकिन आज गाँव में किसानों और मजदूरों के बीच एक तनाव की परिस्थिति है। आज गरीब मजदूर-वर्ग में पूरे समाज के प्रति क्षोभ है। इस क्षोभ को हमारे जो मित्र एक शक्ति के रूप में अपने आन्दोलन में इस्तेमाल करना चाहते हैं, उन्हें मैं बार-बार चेतावनी देता हूँ कि इस प्रयास से क्रान्ति युद्ध में परिणत हो जायगी, क्षोभग्रस्त वर्गों को सामान्य निष्पत्ति से सन्तोष हो जायगा तथा क्रान्ति बिखर जायगी।

हमारे बहुत से क्रान्तिनिष्ठ मित्र मानते हैं कि क्षोभ में या क्रोध में एक शक्ति होती है और क्रान्ति के लिए उस शक्ति की उपेक्षा नहीं की जा सकती। क्षोभ में शक्ति जरूर होती है, लेकिन उस क्षोभ की शक्ति को केवल उसीसे लड़ने के लिए इस्तेमाल कर सकते हैं, जिसके खिलाफ क्षोभ है। क्षोभ या क्रोध आवेशमूलक शक्ति है, विवेकमूलक नहीं। आवेश में मनुष्य शोषण और दमन तथा शोषक और दमनकारी में भेद नहीं कर सकता है। आवेश से जब क्षोभ उत्पन्न होता है, तो उसकी अभिव्यक्ति सीधी शोषणकारी और दमनकारी के खिलाफ होती है।

अतः उस शक्ति को संगठित करके जिस संघर्ष का अभियान चलाया जायगा, वह शोषणकारी या दमनकारी व्यक्ति या वर्ग के खिलाफ युद्ध का रूप ले लेगा। लेकिन समाज के उन मूल्यों या मान्यताओं या पद्धतियों का निराकरण नहीं हो पायेगा, जिनके कारण शोषण और दमन होता रहता है। क्योंकि आवेशमूलक क्षोभ को व्यक्ति और वर्ग को गिराकर सन्तोष हो जायगा तथा उसके परिणामस्वरूप तात्कालिक

राहत पाकर वह शक्ति शान्त हो जायगी। क्षोभ की शक्ति दूसरों को गिराने में लग सकती है, अपने को और अपने समाज को बदलने में नहीं।

इसलिए हम लोगों को अपनी क्रान्ति की शक्ति के रूप में विचार-शक्ति को ही पकड़े रहना होगा और उस शक्ति के लिए समाज के सर्वजन को एक साथ उद्बोधित तथा आलोडित करना पड़ेगा। नहीं तो हमारी क्रान्ति दिशा-भ्रष्ट हो जायगी। वस्तुतः हमारे आन्दोलन की प्रक्रिया ऐसी होनी चाहिए कि समाज जीवन से ही इस क्षोभ का निराकरण हो, क्योंकि क्षोभ समाज को एकसूत्र में गुँथने नहीं देता है।

इस चीज को हमें बराबर समझ लेना चाहिए। 'वर्ग-संघर्ष' को शान्तिमय तरीके का कितना भी जामा पहनाकर हम सर्वोदय-क्रान्ति की टेकनीक के रूप में नहीं अपना सकेंगे। इस बारे में जितनी चर्चा हो सके, थोड़ी है। क्योंकि दुर्भाग्य से, हम सबके मानस में, क्रान्ति की भूमिका मार्क्सवाद के रूप में भरी पड़ी है। हमने विनोबाजी द्वारा प्रवर्तित भू क्रान्ति में मार्क्सवाद की 'लीगेसी' को साथ लेकर प्रवेश किया है। अतएव उसका संस्कार हमारे मानस में मौजूद रहना स्वाभाविक है। समाज में शोषण, दमन तथा अत्याचार आदि चलते रहते हैं। इसलिए गरीबी तथा निर्दलन का बाजार गर्म है। ऐसी स्थिति में हमारी स्वाभाविक सहानुभूति शोषितों तथा अन्याय-पीड़ितों के प्रति है। और हम मानते हैं कि उनके द्वारा संघर्ष की प्रक्रिया से ग्रामस्वराज्य की क्रान्ति को सफल करेंगे। अतएव इस प्रश्न पर गम्भीरता के साथ हम लोगों को सोचना चाहिए।

एक बार चर्चा हो रही थी कि क्रान्ति का 'इन्स्ट्रूमेण्ट' वर्ग नहीं हो सकता क्या ? मैंने कहा था कि 'वर्ग' क्रान्ति का 'इन्स्ट्रूमेण्ट' नहीं बन सकता है, वह युद्ध का इन्स्ट्रूमेण्ट अवश्य बन सकता है। जब कोई भी संग्राम वर्गगत रूप से चलाया जायगा तो वह युद्ध ही होगा। उसमें

जय-पराजय का तत्त्व प्रमुख होगा। पूरे समाज के लिए मूल्य-परिवर्तन का तत्त्व एक नारे के रूप में भूगर्भस्थित ही रहेगा।

और वस्तुस्थिति तो यह है कि युद्ध के लिए भी वर्ग का कोई स्थान नहीं है। युद्ध में दो निश्चित पार्टियों का होना आवश्यक है। लेकिन समाज में शोषक और शोषित, अन्यायी और अन्याय-पीड़ित या अमीर और गरीब कहे जानेवाले किसी प्रकार का निश्चित वर्ग-भेद नहीं है। निम्नतम गरीब से लेकर उच्चतम अमीर तक सीधा स्लोप की लाइन बनी हुई है। इस स्लोप के बीच में किस बिन्दु पर लकीर खींचकर कहा जा सकेगा कि इस लकीर के नीचेवाले गरीब हैं और ऊपरवाले अमीर हैं और इन दोनों के बीच में संघर्ष है।

दूसरी तरफ वास्तविक स्थिति यह है कि हर मनुष्य एक बिन्दु पर शोषक है और दूसरे बिन्दु पर शोषित है। एक ही मनुष्य कलकत्ता, बम्बई या कानपुर में मजदूर होने के नाते शोषित है और अपने गाँव में डेढ़ सौ प्रतिशत तक सूद कमानेवाला शोषक है। एक ही मनुष्य पूँजीपति के दफ्तर के किरानी होने के नाते शोषित है और दूसरी जगह पर वही व्यक्ति जमीन का मालिक होने के नाते मजदूरों का शोषण करता है। इस प्रकार, हर मनुष्य एक बिन्दु पर अन्यायी होता है और दूसरे बिन्दु पर अन्याय-पीड़ित भी है।

अन्याय, शोषण और दमन आदि पूरे समाज के प्रचलित मूल्य एवं पद्धति के परिणाम मात्र हैं। आज के मूल्य, संस्थाओं तथा पद्धति के परिणाम में से जो कुछ अन्याय, शोषण और दमन आदि तत्त्वों का निर्माण होता है, उसके चंगुल में पूरा समाज ही फँसा हुआ है। प्रचलित संज्ञा के अनुसार शोषक और शोषित, अन्यायी और अन्याय-पीड़ित आदि सभी वर्ग परम्परागत मान्यता और पद्धति के शिकार हैं। अतएव सामाजिक न्याय को प्रतिष्ठित करने का आन्दोलन तब तक सफल नहीं हो सकता है, जब तक पूरा समाज इसमें शामिल नहीं होता है।

यही कारण है कि गांधीजी ने अन्यायमुक्त, शोषणमुक्त और दमन-

मुक्त समाज को सर्वोदय-समाज की संज्ञा दी है। क्योंकि मुक्ति 'सर्व' को चाहिए। सर्व की मुक्ति सर्व के द्वारा ही सध सकती है, यह स्पष्ट है। यही कारण है कि मैं हमेशा कहता रहता हूँ कि वर्ग-संघर्ष को चाहे जितना शान्तिमय बनाया जाय, उसके द्वारा सर्वोदय की क्रान्ति सम्भव नहीं हो सकती है।

भूदान-आन्दोलन की शुरुआत में ही मैंने समझा था कि विनोबा की यात्रा केवल करुणा-यात्रा नहीं है, बल्कि एक नयी क्रान्ति की शुरुआत है। और इस क्रान्ति को जनक्रान्ति का रूप लेना होगा। क्योंकि मैं हमेशा मानता था कि क्रान्ति का अर्थ परिस्थिति के साथ संघर्ष। और वह संघर्ष सम्पूर्ण समाज का होता है, न कि किसी व्यक्ति, वर्ग या संस्था के विरोध में होता है। अगर विरोध होता है, तो मूल्य और पद्धति का। इसलिए अगर गांधी की क्रान्ति का उद्घोष होगा, तो वह समस्त जनता की ओर से ही होगा। इसलिए जब मैंने देखा कि भूदान-यज्ञ का आन्दोलन मालिक और मजदूर दोनो को छू रहा है, तभी मैंने समझा कि यह क्रान्ति का ही शुभारम्भ है।

यही कारण है कि मैं बीघा-कट्ठा के वितरण को गरीबी मिटाना या भूमि-समस्या के हल के रूप मे नहीं देखता हूँ, बल्कि इसे मैं किसान और मजदूर के बीच मे सम्बन्ध-निर्माण करने के रूप मे देखता हूँ। यह सम्बन्ध-निर्माण क्षोभ-निवारण की एक प्रक्रिया ही है। इसके अलावा इस क्षोभ के निवारण के लिए समाज द्वारा कुछ स्थायी कार्यक्रम भी आवश्यक हैं। हमारे आन्दोलन की टेकनिक संघर्ष की नहीं, 'रिप्रोचमेण्ट' —सम्मिलन की ही होगी।

सहरसा में मेरी मरौना-प्रखण्ड की यात्रा के समय मैंने जब देखा कि वहाँ गरीब और मजदूर-वर्ग मे कुछ चेतना का संचार हो रहा है, तो मैंने अपनी यात्रा के कार्यक्रम में एक नया कार्यक्रम जोड़ा। वह था, रात को मजदूरों के टोलो मे जाकर वहाँ के लोगों को एक साथ बटोरकर उनसे गप करना। यह काम मैंने इसलिए शुरू किया कि अपने मन में

जय-पराजय का तत्त्व प्रमुख होगा। पूरे समाज के लिए मूल्य-परिवर्तन का तत्त्व एक नारे के रूप में भूगर्भस्थित ही रहेगा।

और वस्तुस्थिति तो यह है कि युद्ध के लिए भी वर्ग का कोई स्थान नहीं है। युद्ध में दो निश्चित पार्टियों का होना आवश्यक है। लेकिन समाज में शोषक और शोषित, अन्यायी और अन्याय-पीड़ित या अमीर और गरीब कहे जानेवाले किसी प्रकार का निश्चित वर्ग-भेद नहीं है। निम्नतम गरीब से लेकर उच्चतम अमीर तक सीधा स्लोप की लाइन बनी हुई है। इस स्लोप के बीच में किस बिन्दु पर लकीर खींचकर कहा जा सकेगा कि इस लकीर के नीचेवाले गरीब हैं और ऊपरवाले अमीर हैं और इन दोनों के बीच में संघर्ष है।

दूसरी तरफ वास्तविक स्थिति यह है कि हर मनुष्य एक बिन्दु पर शोषक है और दूसरे बिन्दु पर शोषित है। एक ही मनुष्य कलकत्ता, बम्बई या कानपुर में मजदूर होने के नाते शोषित है और अपने गाँव में डेढ़ सौ प्रतिशत तक सूद कमानेवाला शोषक है। एक ही मनुष्य पूँजीपति के दफ्तर के किरानी होने के नाते शोषित है और दूसरी जगह पर वही व्यक्ति जमीन का मालिक होने के नाते मजदूरों का शोषण करता है। इस प्रकार, हर मनुष्य एक बिन्दु पर अन्यायी होता है और दूसरे बिन्दु पर अन्याय-पीड़ित भी है।

अन्याय, शोषण और दमन आदि पूरे समाज के प्रचलित मूल्य एवं पद्धति के परिणाम मात्र हैं। आज के मूल्य, संस्थाओं तथा पद्धति के परिणाम में से जो कुछ अन्याय, शोषण और दमन आदि तत्त्वों का निर्माण होता है, उसके चंगुल में पूरा समाज ही फँसा हुआ है। प्रचलित संज्ञा के अनुसार शोषक और शोषित, अन्यायी और अन्याय-पीड़ित आदि सभी वर्ग परम्परागत मान्यता और पद्धति के शिकार हैं। अतएव सामाजिक न्याय को अधिष्ठित करने का आन्दोलन तब तक सफल नहीं हो सकता है, जब तक पूरा समाज इसमें शामिल नहीं होता है।

यही कारण है कि गांधीजी ने अन्यायमुक्त, शोषणमुक्त और दमन-

मुक्त समाज को सर्वोदय-समाज की संज्ञा दी है। क्योंकि मुक्ति 'सर्व' को चाहिए। सर्व को मुक्ति सर्व के द्वारा ही सध सकती है, यह स्पष्ट है। यही कारण है कि मैं हमेशा कहता रहता हूँ कि वर्ग-संघर्ष को चाहे जितना शान्तिमय बनाया जाय, उसके द्वारा सर्वोदय की क्रान्ति सम्भव नहीं हो सकती है।

भूदान-आन्दोलन की शुरुआत में ही मैंने समझा था कि विनोबा की यात्रा केवल करुणा-यात्रा नही है, बल्कि एक नयी क्रान्ति की शुरुआत है। और इस क्रान्ति को जनक्रान्ति का रूप लेना होगा। क्योकि मैं हमेशा मानता था कि क्रान्ति का अर्थ परिस्थिति के साथ संघर्ष। और वह संघर्ष सम्पूर्ण समाज का होता है, न कि किसी व्यक्ति, वर्ग या संस्था के विरोध मे होता है। अगर विरोध होता है, तो मूल्य और पद्धति का। इसलिए अगर गांधी की क्रान्ति का उद्घोष होगा, तो वह समस्त जनता की ओर से ही होगा। इसलिए जब मैंने देखा कि भूदान-यज्ञ का आन्दोलन मालिक और मजदूर दोनों को छू रहा है, तभी मैंने समझा कि यह क्रान्ति का ही शुभारम्भ है।

यही कारण है कि मैं बीघा-कट्ठा के वितरण को गरीबी मिटाना या भूमि-समस्या के हल के रूप मे नही देखता हूँ, बल्कि इसे मै किसान और मजदूर के बीच मे सम्बन्ध-निर्माण करने के रूप मे देखता हूँ। यह सम्बन्ध-निर्माण क्षोभ-निवारण की एक प्रक्रिया ही है। इसके अलावा इस क्षोभ के निवारण के लिए समाज द्वारा कुछ स्थायी कार्यक्रम भी आवश्यक है। हमारे आन्दोलन की टेकनिक संघर्ष की नहीं, 'रिप्रोचमेण्ट' —सम्मिलन की ही होगी।

सहरसा मे मेरी मरौना-प्रखण्ड की यात्रा के समय मैंने जब देखा कि वहाँ गरीब और मजदूर-वर्ग मे कुछ चेतना का सचार हो रहा है, तो मैंने अपनी यात्रा के कार्यक्रम में एक नया कार्यक्रम जोड़ा। वह था, रात को मजदूरों के टोलों में जाकर वहाँ के लोगों को एक साथ बटोरकर उनसे गप करना। यह काम मैंने इसलिए शुरू किया कि अपने मन मे

जिस 'रिप्रोचमान' (पारस्परिक निकटता) के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता हूँ, उसके लिए मार्ग-खोजन की तीव्रता उमड़ रही थी।

मरौना के बाद जब अप्रैल के अन्तिम सप्ताह से रूपौली की यात्रा प्रारम्भ हुई तो उस मार्ग-खोजन की दिशा मे कुछ प्रगति हुई। धूमिल तौर पर ही सही, कुछ दिखाई देने लगा। मैं उन मजदूरों के साथ उनकी वर्तमान परिस्थितियो का विश्लेषण करता रहा। यह काम भी मैं उनके साथ ही गप के जरिये करता रहा हूँ।

उनसे मैं पूछता कि वे बतायें कि उनकी हालत कैसी है ? शुरू-शुरू में कुछ निराशा, कुछ उलझन और कुछ मुझसे बात करने मे हिचक के कारण वे बता नहीं पाते थे। लेकिन थोड़ी देर तक विभिन्न पहलुओं पर चर्चा करने से उनमे से पाँच-सात व्यक्ति काफी मुखर हो जाते थे। तब मेरी गप भूमिहीन मजदूरों के साथ सह-अन्वेषण तथा सह-विश्लेषण का रूप ले लेती थी।

पन्द्रह-बीस मिनट तक कई पहलुओं पर प्रश्नोत्तर के बाद वे सबके सब इस नतीजे पर पहुँचते थे कि उनकी परेशानियों का हल दो ही बातों से हो सकता है : (१) उनकी मजदूरी बढ़े, (२) उन सबों को कुछ न कुछ जमीन मिले।

अब सवाल यह है कि मजदूरी बढ़ेगी कैसे ? वैसे आज के हमारे तरुण साथी कहेंगे कि हड़ताल आदि के संगठन से यह काम सम्भव है।

लेकिन प्रश्न यह है कि इससे ग्राम-स्वराज्य का लक्ष्य हासिल हो सकेगा क्या ? इससे ग्राम-स्वराज्य के परिणामस्वरूप ग्राम-परिवार बन सकेगा ? अवश्य ही संघर्ष-मूलक पद्धति से सम्पूर्ण रूप से टूटे हुए गाँवों को जोड़कर एक समुदाय नहीं बनाया जा सकता। यह तो तभी बन सकता है, जब उसकी प्रक्रिया संघर्ष-मूलक न होकर 'सम्मिलन' की हो।

यह संघर्ष-मूलक प्रक्रिया हमारी क्रान्ति के विचार से मेल नहीं खाती है। इतना ही नहीं, बल्कि यह व्यावहारिक भी नहीं है। मजदूरी बढ़ाने के लिए संगठित संघर्ष तभी चल सकता है, जब मजदूरों के पास मजदूरी

न हो, यानी जब वे सौदा करने की स्थिति में हों। वह स्थिति तभी पैदा होगी, जब सबों के पास थोड़ी-थोड़ी जमीन हो, ताकि संघर्ष के दिनों में अत्यन्त अल्प परिमाण में ही सही, टिकने के लिए कुछ सहारा हो।

लेकिन जब सम्मिलन की पद्धति से उन्हें जमीन मिल जायगी, तब संगठित संघर्ष से मजदूरी के लिए सौदा करने की भी आवश्यकता नहीं रहेगी। क्योंकि, तब किसान और मजदूर दोनों की मनःस्थिति में आमूल परिवर्तन हो जायगा और तब ग्राम-स्वराज्य की दिशा में आगे बढ़ने के सामुदायिक प्रयास मे से ही मजदूरी का सवाल हल होता जायगा। क्योंकि 'रिप्रोचमान' की मीठी प्रक्रिया का सहज परिणाम वर्ग-भेद के संकट को ढीला करने का ही होगा।

अतएव, मैंने यह माना है कि पहले मजदूरी के सवाल को न उठाकर भूमि-प्राप्ति के सवाल को ही लेना चाहिए। यह बात मैंने अपने-आप नहीं मानी, बल्कि भूमिहीनों से गप के सिलसिले में उनके ही सुझाव से मेरी यह मान्यता बनी। जब मैं उनसे पूछता था कि मजदूरी कैसे बढ़े, तो उनमें से एकाध नेता किस्म का जवान झट से कहने भी लगता था कि हमें संगठित होकर लड़ना होगा। लगता था कि ऐसे नौजवान किसी-न-किसी वामपन्थी पार्टी से सम्बद्ध हैं। क्योंकि मेरे प्रश्नों के उत्तर में वे झट कह देते थे: "काम बन्द कर देना होगा।" तब मैं पूछता था कि काम बन्द करने के दिनों में खाने का क्या सहारा होगा? तो उन्हें कुछ सूझता नहीं था। इससे स्पष्ट है कि आज यह गरीब जनता जितने शब्द बोलती है वे उसके अपने नहीं हैं, बल्कि राजनैतिक पार्टियों द्वारा पढ़ाये हुए हैं। इसलिए मैं उनसे जो कुछ चर्चा करता था, उसमें अपनी तरफ से कोई भी सुझाव नहीं रखता था, बल्कि प्रश्नोत्तर से कोशिश करता था कि वे सोचकर अपना ही उत्तर दें।

इस प्रसंग पर भी धीरे-धीरे उनमें से बहुमत यही राय जाहिर करता था कि अगर वे हड़ताल करेंगे तो भोजन के बिना एक दिन भी टिक

नहीं सकेंगे। आगे चलकर वे यह भी कहने लगते थे कि जमीन ही उनकी समस्या के हल का एकमात्र उपाय है।

इतना निश्चय होने पर जमीन कैसे मिलेगी, इस सवाल के उत्तर में कोई कहता था कि सरकार से मिलेगी, कोई कहता था कि विनोबा बाबा देंगे। सरकार से कितनी जमीन मिली है, यह पूछे जाने पर वे निराशा जाहिर करते थे। विनोबा के बारे में पूछने पर वे कुछ व्यक्तियों के नाम गिनाते थे कि अमुक-अमुक व्यक्ति को जमीन मिली है।

पुनः जब मैं पूछता था कि जमीन सबको चाहिए या दो-चार व्यक्तियों को मिल जाने से काम चल जायगा, तो एक स्वर से सब कहते थे कि जमीन सबको मिलनी चाहिए। यह पूछने पर कि एक गाँव में कितने भूमिहीन होते हैं तो करीब-करीब सभी लोगों से यही उत्तर आता कि करीब सौ परिवार है और हमारे प्रश्नों के जवाब में वे सब इस बात पर सहमत होते कि विनोबा और उनके कुछ लोग मिलकर माँगते रहें, तब भी सबको जमीन देना सम्भव नहीं होगा।

तब सबको जमीन कैसे मिलेगी, इस प्रश्न पर काफी देर तक चर्चा होती है। इस चर्चा में हमेशा वे दिलचस्पी लेते हैं। मैं उनसे कहता हूँ कि अगर सबको जमीन चाहिए तो उसे पाने के लिए कोशिश करनी पड़ेगी। मैं उनसे कहता कि जमीन चार प्रकार से ही मिल सकती है : (१) खरीदकर, (२) छीनकर, (३) ठगकर और (४) माँगकर।

मैं उनको समझाता कि अब तक सारी दुनिया के लोग जानते थे कि जमीन खरीदकर, छीनकर या ठगकर ही मिल सकती है। सन्त विनोबा ने गरीबों के लिए एक नया रास्ता बताया कि जमीन माँगने से भी मिल सकती है। अब विनोबा ने लाखों एकड़ जमीन माँगकर आप सबको दिखा दिया कि जमीन माँगने से भी मिल सकती है और यह दिखाकर अब वे एक स्थान पर बैठकर चाहते हैं कि देश में जितने भूमिहीन हैं या विचारवान् भूमिवान् हैं, वे सबके सब जमीन माँगने में लगें, इससे उनकी भूमिहीनता मिटेगी। अब विनोबा घूम-घूमकर देश के करोड़ों भूमिहीनों का जमीन

नहीं दिला सकते हैं। इसलिए आप सबों को माँगने के लिए खड़ा होना पड़ेगा।

मैंने देखा कि उनमें से काफ़ी लोग इससे सहमत होते हैं। इस सहमति के बाद जब मैं उन्हें पूछता कि चारों प्रकार से जमीन प्राप्त करने के लिए अलग अलग से कौन-सी ताकत चाहिए, तब उनमें से कुछ लोग इतना कहने में समर्थ होते है कि खरीदने के लिए पैसा चाहिए, छीनने के लिए लाठी, भाला और बन्दूक चाहिए, ठगने के लिए बुद्धि चाहिए और माँगने के लिए प्रेम चाहिए।

इस चर्चा के दरम्यान वे यह भी कहते हैं कि विनोबा के पास बहुत प्रेम है, अतः वे माँग लेते हैं। लेकिन हमारे माँगने से कोई क्यों देगा? मेरे पूछने पर वे कबूल करते हैं कि पैसा नहीं बटोर सकते, लाठी-भाला-बन्दूक नहीं बटोर सकते है, उनमें बुद्धि नहीं है और वह प्रेम भी नहीं है। तब जब मैं उनसे पूछता हूँ कि आप जैसे हैं वैसे रहने से काम चलेगा क्या, तो वे कहते हैं कि इस तरह तो दिन-ब-दिन पिसते ही चले जायँगे। जमीन तो हमें चाहिए ही, लेकिन हम क्या करें, हमारी तरफ देखनेवाला कोई नहीं।

फिर देखनेवालों के सम्बन्ध में चर्चा आरम्भ हो जाती है। चर्चाओं का सार यह रहता है कि देखनेवाले उनसे अच्छी स्थिति में रहते हैं, वे अच्छा खाते हैं, अच्छा पहनते हैं, अच्छी कोठियों में रहते हैं और अच्छी सम्पत्ति जमा करते हैं। लेकिन वे अपने से कुछ भी पैदा नहीं करते। उनका सारा वैभव मेहनत करनेवाले गरीबों के द्वारा पैदा की गयी सम्पत्ति में से आता है।

तब हिसाब लगाने से उनके सामने स्पष्ट हो जाता है कि उनको देखनेवालों की संख्या जितनी अधिक होगी, वे उतने ही अधिक गरीब होंगे। इसलिए उन्हे देखनेवाले न रहें, तभी उनकी गरीबी मिट सकती है। जब वे पूछते हैं कि गरीबी कैसे मिटेगी तो मैं उन्हे विनोद में कहता हूँ

कि जितने गरीबी हटानेवाले हैं, जब तक उनको नहीं हटाओगे, तब तक गरीबी नहीं हटेगी।

मैं समझाता हूँ, आज के जमाने में किस तरह सरकार ही जनता की सेवा के बहाने, गरीबी हटाने के बहाने और अनेक सेवाओं के बहाने जनता का शोषण करती है और उस पर से सरकार-मुक्त गाँव बनाने के विचार को समझाने की मैं कोशिश करता हूँ।

जमीन माँगने के लिए प्रेम चाहिए और उनमें से किसीके पास उसकी पूँजी नहीं है, इस बात के सिलसिले में मैं उन्हें समझाता हूँ कि अगर प्रेम नहीं है तो जिस तरह से खेती करके गेहूँ पैदा किया जाता है, उसी तरह हमें प्रेम पैदा करना होगा। मैं उन्हें विशद रूप से समझाता हूँ कि आदमी जब त्याग और तप करेगा, तब उसमें से प्रेम पैदा होगा। माँ के पास बच्चों के लिए जितना प्रेम होता है उतना प्रेम समाज में किसीको किसी दूसरे के लिए नहीं होता है। यह इसलिए कि माँ बच्चे के लिए त्याग करती है और कष्ट सहकर तप करती है, जिसके परिणाम-स्वरूप प्रेम पैदा होता है। विनोबा ने जब घर-द्वार सब छोड़कर पूरी जिन्दगी को समाज के लिए त्याग दिया और इन्सान के लिए तप किया तो उनके अन्दर बहुत बड़ा प्रेम पैदा हुआ। अब उसी प्रेम की ताकत से उन्होंने लाखों एकड़ जमीन माँग ली।

लेकिन गरीब जनता अपनी व्यस्त गृहस्थी को सँभालते हुए न तो उतना त्याग ही कर सकती है और न तप। फिर किस ताकत से माँगकर जमीन प्राप्त कर सकती है?

इसी प्रसंग में विनोबा ने जो रास्ता दिखाया है, उस पर चर्चा चलती है। मैं बताता हूँ कि विनोबा ने अगर सारी जिन्दगी त्याग और तप किया और उसके फल से बहुत बड़ा प्रेम इकट्ठा किया, तो वे भी अपनी हैसियत और ताकत के मुताबिक थोड़ा-थोड़ा त्याग कर ही सकते हैं और उसके बदले थोड़ा प्रेम भी हासिल कर सकते हैं। एक सेर

में अस्सी तोले होते हैं। विनोबा ने अगर पाँच सेर त्याग किया है, तो वे कम-से-कम एक तोला त्याग कर ही सकते हैं।

विनोबा ने कहा है कि किसान एक बीघा जमीन में एक कट्ठा जमीन गरीबों के लिए निकाले और भूमिहीन मजदूर तीस दिनों की मजदूरी में से एक दिन की मजदूरी निकालकर उनमें से जो सबसे दुःखी हैं, उनकी मदद करे, तो उसमें से एक तोला प्रेम पैदा होगा। हजार आदमी के हजार तोले प्रेम की ताकत जोड़ने से विनोबा के बराबर प्रेम पैदा हो जायगा।

फिर जिन किसानों ने बीघा में कट्ठाभर जमीन दी है और जितने मजदूरों ने एक महीने में एक दिन की मजदूरी दी है, वे सब अगर एक साथ प्रतिदिन सबेरे उठकर जमीनवालों से बीघे में कट्ठाभर जमीन देने की माँग करें तो सब मिलकर अपने प्रेम की ताकत से जमीन प्राप्त कर ही सकते हैं। लेकिन अगर ये अपने घर पर बैठे रहें और चाहें कि कोई बाबू या महात्मा जमीन माँगकर उनके दरवाजे पर पहुँचा दे, तो यह हो नहीं सकता है।

मैंने देखा कि वे बात को ठीक-ठीक समझ लेते हैं, यद्यपि वे ऐसा कर सकेंगे, इस पर विश्वास नहीं होता है। मैं मानता हूँ कि अगर हमारे सभी साथी इस प्रकार व्यापक रूप से समझाते रहेंगे तो किसी न किसी दिन उनमें इस प्रकार से प्रेम पैदा कर उस प्रेम की ताकत से जमीन माँगने की हिम्मत पैदा हो जायगी। तब इस क्रान्ति में किसान और मजदूर दोनों का शिरकत सम्भव हो सकेगा।

कोई कह सकता है कि आप विचार से 'रिप्रोचमान' की बात करते हैं, लेकिन कार्यक्रम 'कन्फ्रन्टेशन' (मुकाबले) का ही बताते हैं। ऐसी विसंगति क्यों? अगर गहराई से सोचेंगे, तो यह 'कन्फ्रन्टेशन' का कार्यक्रम नहीं, 'कन्वर्शन' (विचार-परिवर्तन) का कार्यक्रम है। जिन लोगों ने दिया है, वे जिन्होंने नहीं दिया है, उनके पास जाकर उन्हें देनेवालों की जमात में शामिल करने का प्रयास करते हैं, अर्थात् वे उन्हें अपने

विचार में 'कन्वर्ट' (परिवर्तित) करना चाहते हैं। यह प्रक्रिया शुद्ध रूप से 'रिप्रोचमेंट' की ही है, ऐसा समझना चाहिए।

हमारे अधिकांश साथी इस बात से चिन्तित हैं कि हमारे आन्दोलन में भूमिहीन मजदूरों का 'इन्वाल्वमेण्ट' (शिरकत) कैसे हो ? उन्हें मेरा परामर्श यह है कि वे अपनी चिन्ता से परेशान न होकर मैं जिस ढंग से मार्ग-खोजन का प्रयास करता हूँ, उसी तरह वे इन मजदूरों के बीच जाकर बैठें और मार्ग-खोजन करें। तब धीरे-धीरे उन्हें स्पष्ट मार्ग दिखायी पड़ेगा।

७. ग्रामस्वराज्य के कार्यक्रम

ग्रामदान-प्राप्ति के बाद हम लोग पुष्टि के काम में लगे हैं। और मैं अक्सर कहा करता हूँ कि पुष्टि के बाद सृष्टि। उसके लिए मार्ग खोजन का चिन्तन अभी से होना चाहिए।

मेरी राय से पुष्टि का काम पूरा हुआ तब समझना चाहिए, जब ग्रामसभा अपने-आप कुछ काम करने लग जाय, कुल जमीन का बीघा-कट्ठा बँट जाय तथा भूमिहीनों को कब्जा मिल जाय, अदालत-मुक्ति हो जाय और कानूनी पुष्टि हो जाय। इतना काम सघन रूप में चलाने की जरूरत है।

उसके बाद सृष्टि के काम का मतलब है, ग्रामस्वराज्य की स्थापना। इस बिन्दु पर बड़ा प्रश्न यह है कि ग्रामस्वराज्य का 'फंक्शन' और 'रोल' क्या होगा ? क्या पुष्टि के उपर्युक्त काम पूरे होने के बाद ब्लाक बना रहेगा और सरकार के दूसरे-दूसरे विकास के विभाग बने रहेंगे ? अभी से सोचना होगा कि कौन-कौन विभाग सरकार-निरपेक्ष ग्रामस्वराज्य की जिम्मेदारी में आयेगा। मैं चाहता हूँ कि ग्रामसभा के सदस्यों के साथ इन प्रश्नों की चर्चा की जाय। हमें केवल हमारे स्वतन्त्र चिन्तन में न

लगकर ग्रामवासियों को ही चिन्तन में लगाना चाहिए और उनके चिन्तन के माध्यम से ही हमारा चिन्तन भी चले। इसके बिना ग्रामस्वराज्य की कल्पना साकार नहीं होगी।

ग्रामस्वराज्य के लिए निर्माण का कार्य भी आवश्यक है। लेकिन इसमें लक्ष्य यह रहना चाहिए कि निर्माण का काम कब और कैसे किया जाय, ताकि वह क्रान्ति के प्रति जनता के ध्यान को अधिक आकर्षित कर सके, ऐसा न हो कि उस काम के कारण जनता का ध्यान क्रान्ति से हटकर दूसरी ओर लग जाय।

पहला काम ग्रामस्वराज्य के विचार को परिपुष्ट करना है। उसके साथ-साथ दण्डशक्ति से भिन्न स्वतन्त्र लोकशक्ति के द्वारा निर्माण के कार्य के लिए ग्रामसभा को उद्‌बोधित करना, प्रेरित करना तथा उसका मार्गदर्शन करना है। ऐसा न कर अगर हम बीच में ही पड़कर जिस राज्य-शक्ति को ग्राम स्तर पर विघटित करना चाहते हैं, उसी शक्ति द्वारा संचालित विकास-योजना का कोई अंश अपने मार्फत चलाते रहेंगे, तो हम गाँव का ध्यान क्रान्ति से हटाकर विकास की तरफ मोड़ देंगे और क्रान्ति पिछड़ जायगी।

पुष्टि-कार्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग ग्रामकोष-निर्माण है। अगर हमें ग्राम-विकास का काम करना भी है, तो जनमानस को सरकार-मुक्त गाँव के विचार से प्रेरित करके उसी कोष के सहारे, बिलकुल छोटे पैमाने पर ही सही, शुरू करा देना चाहिए। और जैसे-जैसे कोष की राशि बढ़ती जाय, वैसे-वैसे विकास का काम बढ़ाया जाय। ऐसा करने से जन-मानस में ग्रामकोष का ही महत्त्व केन्द्रित रहेगा और इस कारण ग्रामकोष को नियमित रूप से संगठित करने की ओर भी ध्यान बना रहेगा, यानी जनता की दृष्टि क्रान्ति पर ही केन्द्रित रहेगी।

किसी भी अविकसित देश के लिए बिना बाहरी मदद के अपना विकास करना कठिन होता है। लेकिन अगर वह देश पूर्ण रूप से बाहर की मदद लेता रहे, तो उस देश की स्वतन्त्रता कुण्ठित होगी। अगर वह

अपनी राष्ट्रीय शक्ति से ही विकास का काम करता रहे और थोडी बाहरी मदद स्वीकार करे, तो उस देश की स्वतन्त्रता परिपुष्ट होगी। यह सामान्य तथ्य है।

अगर सामान्य परम्परागत समाज के लिए भी यह आवश्यक सिद्धान्त है, तो क्रान्ति के लिए तो यह अनिवार्य होना चाहिए। ग्रामकोष से ही ग्राम-विकास करना है—एक बार यह बात ग्रामीण जनता की समझ में आ जाय, तब फिर ग्रामसभा अपने अभिक्रम से, यानी हमारे माध्यम का सहारा लिये विना, सरकारी विकास-योजना की सहायता भी प्राप्त करे, तो उससे क्रान्ति की प्रगति में कोई बाधा नहीं आयेगी। और तब जनता को आत्मशक्ति का परिचय होगा, जिससे राज्य-निरपेक्ष लोकशक्ति से ग्रामनिर्माण की सम्भावना पर विश्वास पैदा होगा। तभी 'जनता सरकार-निरपेक्ष ग्रामस्वराज्य कायम कर सकती है'—हमारे इस कथन पर उसको विश्वास होगा और वह क्रान्ति की ओर पूर्ण गति से बढ़ सकेगी।

मैं लोगों को समझाता हूँ कि 'दान' के बाद ही 'अनुदान' आना चाहिए। 'अनु' का अर्थ ही है, पीछे चलना। मैं कहता हूँ कि गाँव के विकास का काम पहले दान से होगा और उसके बाद अनुदान माँगना चाहिए। और बाद में भी दान से अनुदान छोटा होना चाहिए। अगर हम ऐसा नहीं करेंगे, तो जनता क्रान्ति-विचार को छोड़कर आग्रहपूर्वक हमारे ही सहारे निर्माण-कार्य में लगेगी।

आजाद होने के बाद अब तक हम लोगों ने जो कुछ रचनात्मक कार्य किया है, वह सब सरकारी तथा गैर-सरकारी केन्द्रीय साधनों तथा संस्थाओं के घेरे के अन्दर ही किया है। इसलिए आज हम देखते हैं कि खादी-संस्थाओं में अपनी स्वावलम्बी शक्ति पर के विश्वास का बिलकुल अभाव है। उनका सम्पूर्ण मानस आज सरकार-अभिमुख हो गया है। हर छोटी बात के लिए कमीशन क्या सहायता देता है, उसी तरफ ताकने की परिपाटी बन गयी है। स्वावलम्बन के प्रतीक चरखे की यह दुर्दशा अत्यन्त शोचनीय है।

इसलिए खादी-ग्रामोद्योग के प्रश्न पर भी ग्रामस्वराज्य की क्रान्ति के पुजारी के लिए अपनी दृष्टि तथा 'रोल' स्पष्ट कर लेने की आवश्यकता है।

हम शासनमुक्त, शोषणहीन समाज की बात करते हैं और उस ओर की यात्रा में सरकार-मुक्ति और बाजार-मुक्ति को मुख्य मानते हैं। सरकार-मुक्ति के लिए स्वतन्त्र ग्राम-समाज यानी ग्रामस्वराज्य की स्थापना अनिवार्य मानते हैं तथा बाजार-मुक्ति के लिए सम्पूर्ण वैज्ञानिक दृष्टि से गृहोद्योग और ग्रामोद्योग को एकमात्र मार्ग समझते हैं। दुर्भाग्य से आज की खादी और ग्रामोद्योग सम्पूर्ण रूप से सरकार-आश्रित हो गये हैं। इतना ही नहीं, बल्कि वे बाजार मुक्ति के विपरीत बाजार-प्रवेश के साधन बन गये हैं। यद्यपि बाजार-प्रवेश के प्रयास में उन्हें निरन्तर मार खाते हुए निस्तेज बनते जाना पड़ रहा है।

और फिर भी आज जो खादी और ग्रामोद्योग का काम चल रहा है, वह वर्तमान परिस्थिति में देश के लिए कितना महत्त्वपूर्ण है, यह भी समझना चाहिए। ग्रामदान और ग्रामस्वराज्य के आन्दोलन के प्रति उनकी जिम्मेदारी की भूमिका पर जब उन्हें तौलते हैं तो हमें असमाधान मालूम होता है और इस कारण हममें उनकी काफी टीका करने की आदत पड़ गयी है। लेकिन हमें भूलना नहीं चाहिए कि भारत जैसे करीब-करीब स्थायी अकालग्रस्त देश में राहत का काम स्थायी आवश्यकता बन गयी है। जो उस काम को करता है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण काम करता है।

हमें सिर्फ इतना ही स्पष्ट रूप से समझना चाहिए कि वह क्रान्ति-कार्य नहीं है और न वह मुक्ति कार्य ही है, वह शुद्ध पुण्य-कार्य है। इसीलिए वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होने पर भी हमारा काम नहीं है। हम जब इस बात को स्पष्ट रूप से समझ लेंगे और आज के खादी-जगत् से क्रान्ति की अपेक्षा नहीं रखेंगे, तब हमें निराश नहीं होना पड़ेगा। इस कारण किसी प्रकार की टीका के प्रसंग का अवसर नहीं रहेगा।

फिर भी, हमें समझना चाहिए कि अपनी ग्रामस्वराज्य की क्रान्ति के लिए उनके काम की काफी उपयोगिता रहेगी। हमारे और उनमें काम करनेवालों के बीच में परस्पर सहकार भी रहेगा।

सन् १९२१ में जब देश में अंग्रेजी सरकार से असहकार का आन्दोलन चला था, तो कांग्रेस ने उस समय के विधान के अनुसार विधान-सभा में जाना अपना काम नहीं माना था। लेकिन सर सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी आदि नेताओं ने धारासभाओं में प्रवेश किया था। उनके काम के परिणाम से कांग्रेस अपने लिए लाभान्वित अवश्य होती थी। सर सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी ने कलकत्ता कॉरपोरेशन के रूप में अंग्रेजी सरकार से जो विधान स्वीकृत कराया था, उसे सी० आर० दास, सुभाषचन्द्र बोस आदि नेताओं ने कांग्रेस के काम के लिए भरपूर इस्तेमाल किया था।

इसी तरह ग्रामस्वराज्य की क्रान्ति के दौरान जब ग्रामसभा बाजार-मुक्ति का संकल्प कर लेगी, तब उस संकल्प के अमल के लिए इन संस्थाओं का भरपूर सहकार मिलेगा। तब समझना होगा कि खादी-ग्रामोद्योग के राहत का काम क्रान्ति का काम न होने पर भी क्रान्ति के सहायक काम उसी तरह हैं, जिस तरह सरकार के अनेक कल्याणकारी काम ग्रामस्वराज्य की संकल्प पूर्ति के लिए ग्रामीण समाज का सहायक बन सकता है। और यह भी समझना चाहिए कि आज की खादी-ग्रामोद्योग संस्थाओं का हमारे साथ लगाव औरों से अधिक रहेगा। इस वस्तुस्थिति को सामने रखकर ही इन संस्थाओं के साथ अपना व्यवहार रखना होगा।

हमें यह भी समझना चाहिए कि खादी ग्रामोद्योग-कार्य ग्रामस्वराज्य की क्रान्ति का एक महत्त्वपूर्ण अंग है, हालाँकि आज जितना खादी-ग्रामोद्योग का काम चल रहा है, वह क्रान्ति की वाहक शक्ति नहीं, केवल सहायक शक्ति है। तब यह सोचना पड़ेगा कि खादी-ग्रामोद्योग की प्रक्रिया और कार्यक्रम क्या होगा, जो क्रान्ति की वाहक-शक्ति बन सकता है?

पहला प्रश्न यह है कि क्रान्तिकारी चरखे के काम के लिए पहल किसकी ओर से होगी और किस शक्ति से चलेगी ? स्पष्ट है कि ग्राम-स्वराज्य के लिए हर काम की पहल ग्रामसभा करेगी। कार्यक्रम की पहल भी तभी हो सकेगी, जब पूरा गाँव अपने संकल्प से बाजार-मुक्ति का निर्णय कर यह तय करे कि अमुक-अमुक सामग्री के लिए हम इतने साल के अन्दर बाजार से मुक्त हो जायेंगे। इस निर्णय का स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि ग्रामसभा गाँव में खादी ग्रामोद्योग के काम की पहल करे तथा अपने नेतृत्व और साधन से उसका प्रारम्भ कर दे। उद्योग के तकनीकी शिक्षण और सरंजाम-प्राप्ति के लिए ग्रामसभा इन खादी-संस्थाओं से माँग करे कि वे इस प्रकार की सहायता दें। यह माँग न करे कि संस्था खुद गाँव में खादी के लिए अपना केन्द्र खोल दे। इस प्रकार के कार्यक्रम के लिए यह आवश्यक होगा कि गाँव की जनता कपास पैदा करने से लेकर कपड़ा-उत्पादन तक अपने ही सहारे करे तथा उत्पादन उपभोग के लिए हो, न कि बाजार के लिए।

इस प्रकार के उद्योग के लिए ग्रामीण जनता को यह भी निर्णय करना होगा कि कौन-सा उद्योग परिवार के क्षेत्र में रहेगा, कौन-सा उद्योग ग्रामीण क्षेत्र का होगा और कौन-सा उद्योग क्षेत्रीय पैमाने पर होगा। उसी हिसाब से हर उद्योग के सरंजाम का पैमाना और प्रकार का सिद्धान्त बनेगा। ऐसे काम सरकार या किसी दूसरी संस्थाओं से प्रमाणित नहीं होंगे।

सारांश यह कि ग्रामस्वराज्य की नयी परिस्थिति में पुराने ढंग की योजना नहीं चलेगी। संस्था-शक्ति से क्रान्ति नहीं हो सकेगी। अब क्रान्ति का साधन संस्था न होकर समाज हो। स्थानीय नेतृत्व और संगठन के मार्फत ही काम हो। कार्यकर्ता ग्रामसभा के मार्फत हर काम हो, इसका प्रयास करेंगे। अब हमें स्थानीय शक्ति का ही उद्बोधन और संगठन करना होगा और क्रान्ति की उतनी ही प्रगति से सन्तोष करना होगा, जितना उस शक्ति से हो सके। इस प्रक्रिया में शुरू में गति मन्द रहेगी,

लेकिन धीरे-धीरे प्रगति तेज होगी। शुरू से ही कार्यकर्ता के आधार पर अपेक्षाओं का निर्माण न करने से स्थानीय शक्ति अधिक सक्रिय होगी, इसमें कोई सन्देह नहीं।

पुष्टि के बाद हमारा एक कार्यक्रम शासन-मुक्ति के मार्ग-खोजन की प्रक्रिया होगी। अब तक मैंने जितना सोचा है, उसमें सामुदायिक विकास ब्लाक के विघटन का रास्ता निकालना पहला काम होगा। इसकी माँग अगर हम जन-मानस में पैदा कर सकें, तो शासन की चट्टान पर एक निश्चित चोट पहुँचा सकेंगे। वैसे ही गाँव के झगड़े गाँव में ही निपटाने की कोशिश होनी चाहिए। इस तरह अदालत-मुक्ति तथा विकास तन्त्र-मुक्ति के छोर से सरकार-मुक्त गाँव के लक्ष्य की ओर बढ़ा जा सकता है।

इसी तरह ग्राम शान्ति-सेना का स्थायी फंक्शन भी हमें ढूँढना पड़ेगा। मैं मानता हूँ कि शान्ति-सेना का मुख्य फंक्शन अदालत-मुक्ति को सफल बनाने का होना चाहिए। इसका मतलब यह नहीं है कि शान्ति-सेना समाधान-समिति का काम करे। वह काम तो ग्रामसभा का ही है। लेकिन शान्ति-सेना का काम होगा, ग्रामसभा के सदस्यों को अदालत में जाने से रोकने का। मैं शान्ति सेना को अपनी क्रान्ति के लिए सबसे अधिक प्रभावशाली साधन मानता हूँ। लेकिन अभी तक हमारा ध्यान उस दिशा में नहीं गया है, क्योंकि अभी तक हमने ग्रामीण समाज के अन्तस्तल तक पहुँचकर इस काम को किया नहीं है। अब तक हमने ऊपर-ऊपर देश के नौजवानों को आकर्षित मात्र करने का प्रयास किया है। लेकिन ग्रामस्वराज्य के सन्दर्भ में हमें बहुत ज्यादा गहराई में सोचना तथा अभ्यास करना होगा।

अदालत-मुक्ति के काम के लिए ग्राम-शान्ति-सेना के स्तर से कुछ बड़े संगठन की भी शायद आवश्यकता होगी। इसके लिए पंचायत या प्रखण्ड शान्ति-सेना मण्डल का संगठन कर सकते हैं। इसमें हर गाँव की शान्ति-सेना के दो दो प्रतिनिधि रहें। किसी गाँव में अगर दो पक्ष अदालत में जाते हैं, तो ग्राम-शान्ति-सेना के सदस्य टोली बनाकर दोनों

को समझाने का प्रयास करें। अगर वे नहीं मानते हैं, तो पंचायत या प्रखण्ड मण्डल द्वारा समझाने का प्रयास करें। अन्ततोगत्वा आवश्यकता पड़ने पर टोली बाँटकर दोनों के घरों पर राम-धुन वगैरह के साथ धरने का भी कार्यक्रम सोच सकते हैं। इस तरह शान्ति-सेना को सक्रिय बनाने की दिशा में हमारा चिन्तन चलना चाहिए। नहीं तो शान्ति-सेना एक सांस्कृतिक प्रवृत्ति के रूप में तरुणों को आकर्षित करने का एक सामान्य कार्यक्रमभर बनकर रह जायगा।

शान्ति-सेना द्वारा भूमि-सेना की प्रवृत्ति भी उठायी जा सकती है। शान्ति-सेना अपने को भूमि-सेना के रूप में संगठित करे। उस सेना में उन तमाम भूमिहीन मजदूरों को ले लें, जिन्हें बीघा में कट्ठा के रूप में या भूदान में से कुछ जमीन मिल रही है। इस सम्मिलित शक्ति से उन मजदूरों को मिली हुई जमीन पर श्रमदान करके कम-से-कम एक फसल बोआ दें। जिन मजदूरों को भूमि मिली हुई है, उनके पास जमीन को आबाद करने का साधन नहीं है। है भी तो कुछ थोड़ों के पास है। अगर शान्ति-सेना का भूमि सेना-विभाग श्रमदान से उनकी जमीन को आबाद कर देगा, तो यह कृति उनके क्षोभ-निराकरण की दिशा में एक सक्रिय कदम होगा और वह कदम शान्ति-सेना का ही कार्यक्रम होगा।

शान्ति-सेना को एक तीसरा काम भी उठाना चाहिए। बहुत से किसानों ने बीघा में कट्ठा जमीन का प्रमाण-पत्र वितरित कर दिया है, लेकिन भूमिहीनों को उसका कब्जा नहीं मिला। अगर शान्ति-सेना ग्राम-सभा की मदद से इस काम को भी अपने हाथ में ले, तो वह गाँव के वर्ग-भेद मिटाने में मददगार होगी। वस्तुतः इस प्रकार का भेद ही अशान्ति का बहुत बड़ा कारण है।

इसी प्रकार आचार्यकुल के संगठन की दिशा में भी विशेष काम करना होगा। आखिर अन्ततोगत्वा सर्वोदय-समाज का नेतृत्व आचार्य-कुल को ही लेना होगा। यह तो आज सार्वजनिक एहसास हो चुका है

कि राजनायकों के नेतृत्व में तो समाज भ्रष्ट और नष्ट होता रहेगा। हम लोग जिस ग्रामस्वराज्य की क्रान्ति को साकार करना चाहते हैं, उसका साधन आचार्यकुल तथा शान्ति-सेना ही बन सकेंगे। यही दो शक्तियाँ *क्रान्ति की चालक-शक्ति तथा धृति-शक्ति बन सकती हैं।* हमें शिक्षकों से तथा दूसरे शिक्षा-प्रेमी नागरिकों से आचार्यकुल के ऐसे सदस्य ढूंढ़ने होंगे, जो अपनी जिम्मेदारी तथा अभिक्रम से अपने कुल को आगे बढ़ायें। ऐसे शिक्षकों द्वारा रात्रि-पाठशाला का भी संगठन करना चाहिए।

आखिर में हमें एक और बात का खयाल रखना है। अक्सर ऐसा होता है कि जो गाँव कुछ आगे बढ़ता है, याने जहाँ के लोग ग्राम-स्वराज्य की दिशा में कुछ काम करने लगते है, उस गाँव मे हम लोग बाहर के दर्शकों का ताँता लगा देते हैं। हम बाहरवालों को बार-बार उन्हीं गाँवों मे ले जाते हैं। उसके फलस्वरूप गाँव की प्रगति रुक जाती है और वहाँ के लोग अपने को प्रदर्शनीय मानकर सन्तोष कर लेते हैं। यह ठीक है कि हमारे काम की प्रगति को लोग देखना चाहते है और उन्हें देखना भी चाहिए। लेकिन दिखाने का हमारा ढंग बदलना चाहिए। पूर्व-योजना बनाकर तथा धूमधाम से स्वागत की परिपाटी खड़ी करके गाँव का काम दिखाने का कार्यक्रम हम लोगों को नहीं बनाना चाहिए और देखनेवालों के साथ किसी खास विशिष्ट कार्यकर्ता को भी नहीं जाना चाहिए। उस क्षेत्र के जो सामान्य कार्यकर्ता होते हैं, उनके साथ अध्ययन करनेवाले मित्र चले जायँ और लोगों से गपशप करके वहाँ की स्थिति का अध्ययन करें, ऐसी परिपाटी बनानी चाहिए।

८. ग्राम-गुरुकुल

मैं मानता हूँ कि ग्रामस्वराज्य की पहली जिम्मेदारी शिक्षा में क्रान्ति करने की है। १९३७ में जब काग्रेस के मन्त्रिमण्डल बने, तो गांधीजी ने देश के नेताओं को सलाह दी थी कि उनको सबसे पहला काम शिक्षा में क्रान्ति का करना है, क्योंकि जब तक मनुष्य निर्माण नहीं होता है, तब तक राष्ट्र-निर्माण सम्भव नहीं है।

गांधीजी ने एक बात यह कही है कि शिक्षा स्वावलम्बी हो और विनोबाजी कहते हैं कि वह सरकार-मुक्त हो। अतएव शिक्षा में क्रान्ति का प्रयोग सम्पूर्ण रूप से जनाधारित ही हो सकता है। इसलिए हम लोगों को अपने काम के साथ-साथ ही शिक्षा मे क्रान्ति का मार्ग खोजना चाहिए। और वह भी अपनी तरफ से शिक्षण-संस्था खोलकर नहीं, बल्कि ग्रामीण जनो को प्रेरित करके गॉव के समग्र कार्यक्रम के मारफत ही इस नयी शिक्षा-पद्धति की खोज करनी चाहिए। इसके सिवा ग्राम-स्वराज्य टिकेगा नही।

मेरी यात्रा मे मैंने एक नया कार्यक्रम जोड़ा है। वह है—ग्राम-गुरुकुल का विचार समझाना। हर पड़ाव के दो दिनों के प्रवास-काल मे पहले दिन की आम सभा के बाद दूसरे दिन सुबह मैं ग्रामीण स्कूल के बच्चों के साथ किसी किसान के खेतों मे जाकर काम करने का कार्यक्रम रखता हूँ। एक घण्टा खेत मे काम करने के बाद स्कूल में लौटकर बच्चो और शिक्षको के साथ जितना काम हुआ रहता है, उसके समवाय में सामान्य विज्ञान और समाज-विज्ञान का पाठ पढ़ाने का प्रदर्शन करता हूँ। फिर उनसे निम्न प्रकार के प्रश्नोत्तर होते हैं :

प्र० : आप लोग स्कूल मे पढ़ते हैं। आप बताइये कि यह पढ़ाई कुछ लड़कों के लिए हो या सबके लिए ?

उ० : हरएक को पढ़ना चाहिए।

प्र० : जो बच्चे स्कूल नहीं आते हैं, वे क्या करते हैं ?

उ० : वे बकरी, भैंस और गाय चराते हैं, घास छीलते हैं, माँ को खेत में भेजने के लिए छोटा बच्चा खेलाते हैं।

प्र० : वे सब जब स्कूल में चले जायेंगे, तो यह काम कौन करेगा ?

एक लड़का : उनके बाबू लोग (पिता) करेंगे।

प्र० : अगर उनके बाबू लोग यही करगे तो उनकी गृहस्थी चलेगी ?

सब लड़के (एक साथ) : नहीं चलेगी।

प्र० : तुम बच्चे जब तक स्कूल में रहते हो, तब तक तुम्हारे घर का यह काम कौन करता है ?

उ० : नौकर करता है।

प्र० : ये नौकर बड़ी उम्र के होते हैं या बच्चे ?

उ० : बच्चे होते हैं।

तब मैं उनको समझाता हूँ कि घर-गृहस्थी का काम-काज बँटा रहता है—कुछ स्त्रियों के लिए, कुछ पुरुषों के लिए और कुछ बच्चों के लिए। मैं उनसे कहता हूँ कि उनके घर के बचों के हिस्से का काम बचा नौकर ही करता है, तब सब बचों का काम सब माँ-बाप करने लगेंगे तो उनकी गृहस्थी नहीं चलेगी।

इतना समझाकर जब मैं पूछता हूँ कि ऐसी हालत में स्कूल का रुटीन कैसा हो कि जिससे सब बच्चे पढ़ सकें, तो वे शुरू में जवाब नहीं दे पाते हैं। तब कुछ और प्रश्नोत्तर होने के बाद काफी लड़कों के मुँह से निकलता है कि यह सब काम अगर पढ़ाई के साथ हो, तो सब पढ़ सकते हैं। जब मैं कहता हूँ कि जितने लड़कों ने समझ लिया है वे हाथ उठायें, तो सब हाथ उठा देते हैं। फिर मैं उनसे विनोद में कहता हूँ कि आप लोगों ने जिस बात को दस मिनट में समझ लिया है, उसी बात को महात्मा गांधी देश के नेताओं को दस साल तक समझाते रहे, लेकिन अब तक यह उनकी समझ में नहीं आयी। तो अब आप बताइये कि

आप अधिक बुद्धिमान् हैं या नेता लोग। इस प्रश्न पर लड़के बड़े गौरव से कहते हैं कि हम अधिक बुद्धिमान् हैं। इस विनोद पर उपस्थित ग्रामीण हँस देते हैं।

हमारे देश ने लोकतन्त्र के विचार को स्वीकार किया है और उसके साथ-साथ बालिग मताधिकार को भी मान्य किया है, अर्थात् हर बालिग स्त्री-पुरुष को इतनी शिक्षा अवश्य मिलनी ही चाहिए कि जिससे वह घोषणा-पत्र को पढ़ और समझकर निर्णय कर सके कि कौन-सी नीति देश के लिए सर्वोत्तम है। यह लोकतान्त्रिक समाज की न्यूनतम जिम्मेदारी है।

उपर्युक्त चर्चा से भी यह स्पष्ट होता है कि लोकतन्त्र की सिद्धि के लिए गांधीजी द्वारा परिकल्पित बुनियादी शिक्षा-पद्धति के अलावा दूसरा मार्ग नहीं है। साथ-साथ यह भी स्पष्ट है कि इस पद्धति की शिक्षा शालाओं की चहारदीवारी के अन्दर नहीं सध सकती है, क्योंकि बच्चों के हिस्से का कुल काम एक शाला के अहाते के अन्दर आ नहीं सकता है।

यही कारण है कि १९४५ में गांधीजी ने बुनियादी शिक्षा-पद्धति के लिए एक नया शब्द 'समग्र नयी तालीम' दिया और कहा कि शिक्षा की अवधि गर्भ से लेकर मृत्यु तक है और शाला की परिधि पूरा समाज ही है। यही कारण है कि विनोबाजी कहते हैं कि पूरा गाँव ही एक युनिवर्सिटी बने। मैं इसी योजना को ग्राम-गुरुकुल की संज्ञा देता हूँ।

सन् १९३७-३८ में बिहार-सरकार ने चम्पारन जिले के एक क्षेत्र को बुनियादी शिक्षा का सघन क्षेत्र बनाया था। उस समय मैंने उस क्षेत्र के देहातों में घूमकर जन-मानस में इस शिक्षा-पद्धति की प्रक्रिया को समझाने की कोशिश की थी। उस समय किसान कहते थे कि अगर बच्चों को कुदाल ही चलानी है, तो क्या घर में कुदाल नहीं थी? लेकिन इस बार जब मैं ग्राम-गुरुकुल की दिशा में प्रदर्शन और चर्चा करता हूँ, तो किसान कहते हैं कि अगर यह बात हो जाय तो कहना ही क्या! इन पैंतीस सालों में जन-मानस में इतना परिवर्तन तो हुआ ही है।

आज देश के राष्ट्रपति से लेकर बाजार की सड़कों पर चलनेवाले नागरिक तक सभी शिक्षा में बदल चाहते हैं। लेकिन प्रश्न यह है कि बदल किस ओर? करीब-करीब सबों के मुँह से यह आवाज उठ रही है कि शिक्षा व्यवसाय-मूलक हो, उद्योग-मूलक हो और कृषि-मूलक हो। जैसा कि अभी मैंने कहा, गाँव के किसान भी, जो पहले काम के साथ शिक्षा को जोड़ने की परिपाटी पर व्यंग्य करते थे, अब मेरे ग्राम-गुरुकुल के प्रदर्शन का स्वागत करते हैं।

यह सब तो है। लेकिन प्रश्न यह है कि अगर शिक्षा-विभाग शिक्षा में इस प्रकार का परिवर्तन करता भी है, तो समस्या का हल सम्भव है क्या? शिक्षा की समस्या का हल निकालने के लिए समाज की सामाजिक मान्यता बदलनी चाहिए। आज अपने हाथ से काम करके गुजारा करनेवालों की समाज में प्रतिष्ठा नहीं है। समाज उनको छोटा और नीचा आदमी मानता है। शिक्षित मनुष्य एक भरपूर अशिक्षित समाज में अपने को छोटा और नीचा कैसे समझ सकता है? उनके लिए ऐसा समझना मानव-शास्त्र के तथ्य के खिलाफ है।

हमारे एक आश्रम में काम करनेवाले एक बढ़ई आश्रम के नेता के पास पहुँचे और उनसे अनुरोध किया कि उनके मैट्रिक पास लड़के को किसी तरह सिफारिश करके कॉलेज में भर्ती करा दें। उनको समझाया गया कि बढ़ई अपने काम से तीन-चार सौ रुपया महीने की आमदनी कर लेता है, जहाँ चार साल काफी खर्च करने के बाद उसका बी० ए० पास लड़का सौ-डेढ़ सौ रुपये की नौकरी के लिए मारा-मारा फिरता रहेगा। तब उसने झट से कह दिया कि "बाबू! बढ़ई का काम करनेवाले को पैसा जरूर मिल जायगा, लेकिन कुर्सी नहीं मिलेगी। बी० ए० पास लड़का चाहे सौ रुपये की नौकरी करे, उसे कुर्सी मिलेगी। कुर्सी कौन नहीं चाहता!"

अतएव राष्ट्रपति से लेकर उन तमाम नौजवानों से, जो शिक्षा में बदल या क्रान्ति की बात करते हैं, मेरा कहना है कि समाज की उपर्युक्त

मान्यता को बदलने के लिए हाथ से काम करनेवालों को कुर्सी दिलाने के आन्दोलन मे लगना होगा, नहीं तो शिक्षा में बदल या क्रान्ति एक नाटकीय परिपाटी बनकर रह जायगी। कुर्सी के प्रश्न पर मान्यता बदले बिना व्यावसायिक, औद्योगिक, कृषि मूलक तथा श्रम-मूलक प्रवृत्तियों के साथ शिक्षण-योजना की बात आकाश-कुसुम मात्र बनकर रह जायगी।

विशेषकर अपने आन्दोलन से लगे साथियों से मैं कहता हूँ कि वे जब तक हाथ से काम करके गुजारा करते हुए समाज में प्रतिष्ठित जिन्दगी बिताने की परिपाटी नहीं चलायेंगे, तब तक उनमें चाहे जितनी तड़प हो, उनकी 'शिक्षा में क्रान्ति' की बात केवल नारा बनकर रह जायगी। मैं देश के तमाम मित्रों से कहना चाहता हूँ कि जब तक प्रधानमन्त्री से लेकर छोटे-छोटे कुर्सीवाले तक हाथ से काम करना प्रारम्भ नहीं करेंगे, तब तक हाथ से काम करनेवालों को कुर्सी मिलना असम्भव है।

इस दृष्टि से आचार्यकुल को अब शिक्षा मे क्रान्ति के व्यावहारिक प्रयोग में लगना जरूरी है। यद्यपि यह आवश्यक है कि शिक्षा जनाधारित तथा सरकारमुक्त हो, फिर भी प्रारम्भिक स्टेज पर स्वतंत्र लोकशक्ति तथा सरकारी शक्ति के समन्वय से प्रयोग चले। इसके लिए ऐसे ही आचार्यों की आवश्यकता होगी, जो शिक्षा मे क्रान्ति के प्रयोग को अपना जीवन-मिशन बनाकर बैठने को तैयार हो। इन दो आचार्यों के नेतृत्व तथा मार्ग-दर्शन मे गाँव के प्रौढ़ तथा बच्चों को समग्र तालीम की व्यूहरचना करनी होगी।

छात्र, अध्यापक, आचार्य सब मिलकर एक-एक किसान के खेत में प्रतिदिन चार घंटा वैज्ञानिक खेती के लिए काम करेंगे। दोपहर के बाद तीन घटा पढ़ाई करेंगे। यह पढाई सरकारी विभागों के विद्यालयों के अनुसार ही चलेगी। सरकारी विभागों से इजाजत लेनी होगी कि इस प्रायोगिक विद्यालय में सुबह चार घंटा खेती और उद्योग तथा तीसरे पहर तीन घंटा पढ़ाई का रूटीन वे मंजूर करें। शिक्षा-विभाग से यह भी मंजूर कराना होगा कि विद्यालय के अध्यापकों को पाँच साल

तक स्थानान्तरित न करे। मार्गदर्शक आचार्य को विज्ञान का अध्ययन होना चाहिए तथा कृषि-शास्त्र का भी अभ्यास उसको कर लेना होगा। इसके बिना गुरुकुल का प्रयोग सफल नहीं होगा।

६. संघ नहीं, संग

मैं हमेशा कहता रहता हूँ कि बनी-बनायी संस्था द्वारा क्रान्ति नहीं हो सकती है, भले ही क्रान्ति का उद्‌घोष हो जाय। क्रान्ति तभी हो सकती है, जब जिसे क्रान्ति चाहिए, वह उसकी पहल करे। यह सत्य है कि हमने कुछ लोगों के साथ स्नेह-सम्बन्ध स्थापित किया है और उनसे अपने काम में सहकार लिया है। लेकिन मैं उस सहकार को क्रान्ति की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं देता हूँ। हमारे काम की तूफानी रफ्तार के कारण उनका सहकार भी देखने में उत्साहवर्धक रहा है। लेकिन क्रान्ति के लिए इस स्थिति को पूँजी के रूप में इस्तेमाल करना कठिन है।

अभी तक हम लोगों ने जो काम किया है, वह केवल क्रान्ति के उद्‌घोष के लिए ढोल-पिटाई का काम है। हम लोग जिसे निष्पत्ति मानते हैं, वह उसी तरह से भ्रम है, जिस तरह कुँआ खोदते समय पाँच-छह फुट के बाद पानी देखकर लोग समझने लगे कि हम कुएँ की सतह पर पहुँच गये हैं। अगर हम कुछ निष्पत्ति देखना चाहते हैं, तो हम सबको हड्डी गलानी होगी।

१९५५ में विनोबाजी की उड़ीसा-यात्रा के दरम्यान हमारा आन्दोलन भूदान से ग्रामदान की ओर मुड़ने लगा। उसी समय से विनोबाजी के दिमाग में क्रान्ति की प्रक्रिया के बारे में चिन्तन चलने लगा था। और अगले साल कांचीपुरम् सम्मेलन के अवसर पर हम लोगों से उन्होंने यह कहा कि आप सब क्यों न क्रान्ति का एक नाटक कर डालें? उस नाटक के स्वरूप के बारे में यह संकेत किया कि हम सर्व-सेवा-संघ की संस्था

को समाप्त कर दें। कार्यकर्ता अपने क्षेत्र में फैलें और जन-जन में क्रान्ति को फैलाने का प्रयास करें। आगे चलकर सर्व-सेवा-संघ ने अपने निवेदन में देश की कोटि-कोटि जनता से अपील की कि वे इस क्रान्ति को अपने हाथों में उठा लें, ताकि देश की संकटपूर्ण समस्याओं का समाधान हो सके।

फिर विनोबाजी की प्रेरणा से सर्व-सेवा-संघ ने तन्त्रमुक्ति और निधि-मुक्ति तथा सर्वजनाधार का प्रस्ताव किया। लेकिन दुर्भाग्य से हम लोग इस विचार के अमल के प्रयास मे असफल हुए। इतना ही नहीं, उसका प्रयास भी नहीं किया और न मार्ग खोजने की दिशा में कोई गम्भीर चर्चा ही की। आन्दोलन की सारी गतिविधि पूर्ववत् तन्त्रबद्ध तथा निधि-आधारित ही चलती रही, यद्यपि वह निधि पूर्ण रूप से पुरानी संचित निधि ही नहीं रही, बल्कि कभी कभी केन्द्रीय स्तर पर कोष इकट्ठा करने के रूप में भी रही। कुल मिलाकर क्रान्ति की प्रक्रिया की पद्धति में हम कोई अन्तर नहीं ला सके।

तब से आज तक उस प्रश्न पर हम लोग आपस में रह-रहकर चर्चा जरूर करते हैं। लेकिन उस दिशा में कभी किसी किस्म के प्रयोग मे नहीं लगे। अगर विनोबा तीव्रता के साथ आग्रह करते और इसके लिए अड़ जाते, तो कुछ अवश्य होता।

लेकिन हम सबको यह अवश्य समझना चाहिए कि विनोबा जिस क्रान्ति की देश को प्रेरणा दे रहे है, वह अहिंसक क्रान्ति है। हम अपने को सिपाही और विनोबा को सेनापति मानते रहे हैं। लेकिन अहिंसा और हिंसा में सेनापति का स्वधर्म अलग होता है। हिंसा मे सेनापति आदेश देता है और आदेश की अवहेलना होने पर दण्ड देता है। अहिंसा का सेनापति सकेत करता है और सकेत की अवहेलना पर सिपाही को स्वतन्त्र विचार पर छोड़ देता है। और विचार तब तक समझाता रहता है, जब तक वह उसे स्वीकार कर अमल करना प्रारम्भ नहीं कर देता। हिंसक क्रान्ति स्थूल तत्त्व पर कब्जा करने की होती है और अहिं-

सक क्रान्ति विचार तथा हृदय-परिवर्तन की होती है, जिसके परिणाम से समाज के मूल्य तथा पद्धति मे परिवर्तन सधता है। इसलिए अपना विचार सफाई से कह देने के बाद विनोबाजी के लिए यह स्वाभाविक था कि ये आन्दोलन की गतिविधि के प्रकार को निर्धारण करने की जिम्मेदारी हमारे ऊपर छोड़ देते।

आखिर हम जो क्रान्ति की बात करते हैं, वह क्या चीज है? क्रान्ति का अर्थ है, प्रचलित मूल्य, मान्यता तथा पद्धति के बदले नया मूल्य, मान्यता तथा पद्धति का अधिष्ठान करना। समाज में प्रचलित मूल्य यह है कि विशिष्ट जन के सहारे ही सामान्य जन चले। प्रचलित सिद्धान्त यह है कि समाज का सारा कार्यक्रम संचालन-पद्धति से चले। प्रचलित मान्यता यह है कि समाज का सन्तुलन दण्ड-शक्ति से हो।

हमारी क्रान्ति इस परम्परा को बदलकर सामान्य जन के सहारे समाज के फंक्शन चलाने की है। हम सचालन-पद्धति को बदलकर सह-कार पद्धति का अधिष्ठान करना चाहते हैं और हम चाहते हैं कि समाज के संतुलन की रक्षा दण्ड-शक्ति के बदले सम्मति-शक्ति से हो।

साध्य और साधन की एकरूपता की रक्षा अगर नहीं होती, तो साध्य भी साधन की दिशा में मुड़ने लगेगा, यह बात हमने गांधीजी से सीखी है। हम लोग आये दिन गांधी-विचार के प्रचार में इसे दुहराते भी हैं। लेकिन हम लोग अपने कार्यक्रम को विशिष्ट जन-आधारित तथा संस्थागत और व्यक्तिगत संचालन-पद्धति से चलाते रहते हैं। हम बात तो करते हैं सहकार-पद्धति की और अपने मन में मानते भी हैं कि हमारा काम संचालन-पद्धति से नहीं, सहकार-पद्धति से चल रहा है। साथ-साथ हम यह भी मानते हैं कि हमारा काम भी विशिष्ट जन के संचालन में नहीं, बल्कि गणनिरपेक्षता के सहारे चल रहा है। लेकिन अगर हम गहराई से विचार करेंगे, तो समझ में आयेगा कि हम जो कुछ कर रहे हैं, यह

संचालन के कार्यक्रम में संचालक की ओर से साधारण कार्यकर्ताओं पर स्वतन्त्र निर्णय का अधिकार देना काफी नहीं है। वह संचालन की कुशलता मात्र है। अगर हम संचालन पद्धति को समाप्त करते हैं, तब संचालन के प्रतिष्ठानों और संस्थाओं को ही विसर्जित करना होगा। आज हम बात-बात में जो कहते हैं कि कोआर्डिनेशन के लिए कुछ केन्द्र रहना ही चाहिए, वह संचालन के संस्कार की ही अभिव्यक्ति मात्र है। हम अपने विचार के प्रति निष्ठा जरूर रखते हैं, लेकिन प्राचीन काल की परम्परागत संचालन-पद्धति और पाश्चात्य देशों से प्राप्त केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति का संस्कार हमें रह-रहकर अपनी ओर खींच लेता है।

हम कभी-कभी यह भी कहते हैं कि तन्त्रमुक्ति और निधिमुक्ति का विचार हवाई कल्पना है। लेकिन समझना चाहिए कि इसी भारत देश में काफी लम्बे अरसे से व्यापक पैमाने पर तन्त्रमुक्त क्रियाशीलता का सफल प्रयोग हो चुका है। उसका एक महान् उदाहरण यह है कि देशभर के उच्चकोटि के विचारक कुम्भ-मेला में मिलते थे और आपस में चर्चा कर विचार-मन्थन करते थे। वहाँ से विचार की व्यापकता को ग्रहण करके अपने-अपने क्षेत्रों में वापस जाते थे। वहाँ अपने विचार के अनुसार काम करते थे। विनोबाजी ने भी १९४८ के प्रथम रचनात्मक सम्मेलन में सर्वोदय-समाज की जो कल्पना रखी थी, वह भी इसी दिशा की ओर संकेत करता है।

आजकल भौतिक विज्ञान में आटोमेशन की बहुत चर्चा है। यह जो मैंने उपर्युक्त उदाहरण दिया है, वह समाज-विज्ञान का आटोमेशन है। इस देश में प्राचीनकाल से आटोमेशन प्रणाली के सफल प्रयास के बावजूद हम अपने विचार के अनुसार इस दिशा में कदम उठाने में घबड़ाते हैं, यह हमारी क्रान्ति के लिए विडम्बना ही है।

कुछ साथी कहते हैं कि कुम्भ की बात दूसरी है, क्योंकि उनको कोई काम नहीं करना पड़ता था। लेकिन यह धारणा भ्रामक है। वस्तुतः समाज की क्रियाशीलता में जो रोल उन सन्त-महात्मा, ऋषि-

मुनि और आचार्यों का रहा है वह व्यवस्था का नहीं, बल्कि शिक्षण का था। व्यवस्था गृहस्थों की इकाई स्वावलम्बन की पद्धति से चलती थी। स्पष्ट रूप से मालूम होना चाहिए कि हमारा भी रोल वही है। हमारा रोल व्यवस्थापक का नहीं, शिक्षक का है। अतः जितना काम वे लोग करते थे, उतना ही काम हमें भी करना है।

हमारे इस प्रयोग में ग्रामस्वराज्य का काम माध्यम हो और अहिंसा का प्रयोग मुख्य लक्ष्य हो। गांधीजी हमारे प्रयोग के लिए एक बड़ा प्रोपोजिशन देकर गये हैं। वह है, 'संगठन अहिंसा की कसौटी है।' हम लोगों को सोचना होगा कि अहिंसक संगठन की रूपरेखा क्या हो। हमारे सामने बापू का मन्त्र है तथा निधिमुक्ति और तन्त्रमुक्ति के रूप में विनोबाजी के तन्त्र का संकेत है। अब सोचना होगा कि इसका रूपायन किस प्रकार हो।

मैं एक बात यह भी कहता आया हूँ कि हमारी पद्धति समिति की नहीं, सम्मेलन की होनी चाहिए। हम किसी 'संघ' में बँधे हुए न हों, बल्कि एक-दूसरे के 'संग' में बँधे रहें। मेरा संकेत सर्वोदय-समाज की कल्पना की ओर रहा है। उसी विचार पर इस बार की परिस्थिति को देखकर चिन्तन चलता रहा है। मैं सोचता रहा कि नये प्रयोग की शुरुआत कहाँ से हो ? उसके कार्यकर्ता किस प्रकार के हों ? और उनके जीविका आदि की व्यवस्था किस प्रकार से हो ?

पहली बात यह है कि किसी संस्था या व्यक्ति द्वारा भेजा गया कार्यकर्ता क्रान्ति नहीं कर सकता है, चाहे वह कितना भी समर्थ हो। वही कार्यकर्ता क्रान्ति कर सकता है, जो विचार के प्रति पूर्ण समर्पण के साथ क्षेत्र में पहुँच जाता है। फिर वह अपनी वृत्ति-शक्ति तथा विचार से काम करता है, किसीके निर्देशन में नहीं। अपनी जीविका के लिए वह चालीसगांव के प्रस्ताव के अमल का प्रयास करता है। यानी अपने मित्र के सहारे, अपने घर के सहारे या सर्वजन के सहारे जीये तथा क्षेत्र के जन-जन में प्रवेश कर, उनसे स्नेह-सम्बन्ध स्थापित कर उसी क्षेत्र के

ग्रामीण जनों में से कार्यकर्ता निकाले, जो इस आन्दोलन को चला सकें। अर्थात् हमारे कार्यकर्ताओं का यह काम रहे कि वे क्षेत्र में से जिम्मेदार सहयोगी ढूँढ निकालें और उन्हें विचार का प्रशिक्षण दें तथा कार्यक्रम के लिए सलाह दें।

मैं सोचता हूँ कि इस विचार के अनुसार कार्यकर्ताओं की जीविका की एक नयी पद्धति अपनायी जाय। यह पद्धति आर्थिक न होकर सांस्कृतिक हो, पारिवारिक हो। पिछले इक्कीस साल से यानी जब से विनोबाजी का नया अभियान शुरू हुआ था, हम अपनी बैठकों मे कार्यकर्ताओं के योगक्षेम के बारे में निरन्तर विचार करते रहे हैं। लेकिन आज तक किसी निश्चित सिद्धान्त पर नहीं पहुँच पाये हैं। विनोबाजी की प्रेरणा से हम कभी-कभी संचित निधिनिरपेक्ष पद्धति को ढूँढते रहे हैं। इस प्रयास में विशिष्ट जनों के सम्पत्तिदान तथा सर्वजन के सर्वोदय-पात्र का विचार सामने आया था। लेकिन उन तरीकों में हम अब तक सफल नहीं हो सके हैं। क्यों नहीं हो सके? उसका कारण भी ढूँढ़ना चाहिए।

मैं जब इस प्रश्न पर विचार करता हूँ तो उसका कुछ कारण समझ में आता है। वस्तुत. एककालीन दान या चन्दा किसी तीव्र प्रयास द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। ऐसा एकमुश्त दान किसी भी अच्छे काम के लिए कोई भी दे सकता है। लेकिन ऐसे तदर्थ अवसर के छोर पर से दान प्रवाह निकल नहीं सकता है। दान-प्रवाह उसी विचार के लिए निकल सकता है, जिसकी आकांक्षा तथा स्वीकृति मनुष्य में है। दान-प्रवाह किसी व्यक्ति के प्रति श्रद्धा की भावना से भी निकल सकता है।

लेकिन हम जिस विचार का अधिष्ठान करना चाहते हैं, उसकी परम्परागत स्वीकृति नहीं है। हम लोक-शिक्षण द्वारा समाज में उस विचार की स्वीकृति पैदा करना चाहते हैं। हम सर्वोदय-पात्र आदि पद्धति उन कार्यकर्ताओं के लिए अपनाना चाहते हैं, जिनका काम परम्परागत मान्यताएँ तथा सिद्धान्तों को बदलने का है। ऐसे विचार के लिए वैसे

मनुष्य में से दान-प्रवाह प्रवाहित नहीं हो सकता है, जिनकी विचार के प्रति निष्ठा नहीं है और उस विचार के अधिष्ठान की चाह नहीं है। वे हमारे काम को अच्छा मानकर कुछ चन्दा दे सकते हैं, कभी खिला-पिला दे सकते हैं और दूसरे प्रकार से सहकार भी कर सकते हैं। लेकिन उनके हाथ से दान-प्रवाह नहीं निकलेगा।

आजादी के आन्दोलन के दिनों में देश के करीब करीब हर मनुष्य में आजादी की उत्कट चाह थी। ऐसे अवसर पर जब हम लोग घर-घर में मुठिया फण्ड के नाम से हँडिया रखते थे, तब सब घरवाले उत्साह से उसमें मुट्ठीदान करते थे। क्योंकि जिस विचार के पोषण के लिए हँडिया रखी जाती थी, उसकी उत्कट चाह थी। उसी तरह धार्मिक संस्थाओं, मन्दिरों तथा मठों के लिए निरन्तर दान-प्रवाह बहता रहता है, क्योंकि उसके लिए परम्परागत मान्यता है।

अतएव, हम लोगों को सोचना होगा कि हमारी पद्धति क्या हो, जिससे उस क्रान्ति के लिए दान-प्रवाह उपलब्ध हो, जिसके पक्ष में जनता की मान्यता मौजूद नहीं है। फिर यह भी देखना होगा कि उस पद्धति में से संचालन की प्रक्रिया की सृष्टि न हो। हमें इस बात को भी देखना होगा कि हमारा जो लक्ष्य ग्राम-परिवार से प्रारम्भ कर विश्व-परिवार तक पहुँचना है, उसके साथ हमारी पद्धति का मेल हो।

सम्पत्तिदान के अवसर पर हमने माना था कि दाता अपने दान का हिसाब खुद रखेगा और उसमें एक मद यह रखेगा कि वे कार्यकर्ताओं के योगक्षेम के लिए सहायता दें। आज जब मैं नये सिरे से सोचना शुरू करता हूँ तो लगता है कि उक्त पद्धति भी हमारे लक्ष्य के अनुरूप नहीं थी। क्योंकि हम उस समय आर्थिक भूमिका पर सोचते थे, पारिवारिक भूमिका पर नहीं।

इन तमाम प्रश्नों पर विचार करते-करते अब मुझे लग रहा है कि अगर हम मित्राधार के विचार को कुछ व्यवस्थित ढंग से विकसित करें, तो उसमें से दान-प्रवाह की भूमिका निकल सकती है और उसके

साथ पारिवारिक बुनियाद भी पड़ सकती है। हम बहुत से साथी देशभर के लोगों से सम्पर्क रखते हैं और उनमें बहुत से ऐसे परिवार हैं, जो समर्थ हैं, हमारे विचार के प्रति निष्ठा रखते हैं और चाहते हैं कि अपने को अपनी स्थिति में रखते हुए इस क्रान्ति के काम में किसी न किसी प्रकार 'इनवाल्व्ड' हों।

ऐसे लोगों को हम सुझाव दे सकते हैं कि वे अपने परिवार के एक सदस्य को इस काम के लिए समर्पित कर दें। लेकिन वस्तुस्थिति यह है कि सारी निष्ठा, श्रद्धा और भक्ति के बावजूद उनमें से कोई निकलने के लिए तैयार नहीं होगा। इसलिए हम उन्हें इस बात की प्रेरणा देने का प्रयास करें कि वे किसी निकले हुए तरुण या तरुणी को अपने परिवार में 'एडाप्ट' करें। उसे अपने परिवार का एक सदस्य मानकर उसके गुजारे का प्रबन्ध करें। इतना ही नहीं, बल्कि परिवार के सदस्य के नाते उनके कार्यक्रम तथा गतिविधि से सम्पर्क रखें। कभी-कभी उनके कार्य-क्षेत्र में अपने परिवार के साथ क्षेत्र देखने के लिए चले भी जायँ तथा अपने परिवार के किसी अनुष्ठान में निमन्त्रित भी करें।

इस प्रकार की भावना अगर पैदा हुई तो इससे केवल जीविका का प्रश्न हल न होकर सर्वोदय-समाज का पारिवारिक सम्बन्ध व्यापक रूप से विकसित हो सकेगा। मुझे पूरा विश्वास है कि हम लोग अगर व्यवस्थित ढंग से इसका प्रयास करेंगे तो सफलता अवश्य मिलेगी, क्योंकि यह जमाने की माँग है।

जब इस प्रकार के एडाप्ट किये हुए तरुण साथी बहुत अधिक संख्या में भिन्न-भिन्न सघन क्षेत्रों में बैठ जायँगे तो वे अपने-अपने क्षेत्रों में अपने ढंग से काम करेंगे तथा समय-समय पर सम्मेलन-पद्धति से परस्पर मिलकर चर्चा करेंगे। इस प्रक्रिया को मैं संघ-पद्धति के बदले 'संग'-पद्धति कहता हूँ। इस प्रकार जब हम लोग सोचते रहेंगे और प्रयोग करते रहेंगे, तो अहिंसक संगठन की खोज में नित्य नया स्रोत दिखाई देगा।

१०. क्रान्तिकारी का रोल

मैं बराबर देखता रहा हूँ कि हमारे कई साथियों में हमारी क्रान्ति का प्रत्यक्ष कुछ परिणाम दिखायी न देने के कारण निराशा का संचार हुआ है। लेकिन हम लोगों को समझना चाहिए कि अहिंसक क्रान्ति का प्रभाव प्रत्यक्ष नहीं होता है। उसका प्रभाव अदृश्य होता है, जो लोकमानस के अंतस्तल में बीजरूप में पड़ा रहता है और वह समय आने पर अंकुरित हो जाता है। तब क्रान्ति का प्रसारण, जैसा हम लोग चाहते हैं, स्वतन्त्र लोकशक्ति के द्वारा ही हो जाता है। उसके लिए हमारे जैसे लोगों की उपस्थिति भी आवश्यक नहीं रह जाती है।

विनोबाजी हमेशा कहते हैं कि क्रान्ति की नहीं जाती है, क्रान्ति होती है। उनकी इस व्याख्या पर हमारे बहुत से मित्र विनोद में कहते हैं : "तब आप लोग कर क्या रहे हैं ? क्रान्ति अगर की नहीं जाती है, अगर अपने-आप होती है, तो आप लोग इस प्रकार चक्कर क्यों काटा करते हैं ?" इसलिए हम लोगों को इस बिन्दु पर भी विस्तार से विचार करने की जरूरत है।

क्रान्तिकारी विचार चाहे जितने उच्चकोटि का हो, समाज के मानस में वह कोरे आदर्शवाद के रूप में ही रहता है। क्योंकि काल-प्रवाह चाहे जितना क्रान्तिकारी हो, लोकमानस हमेशा यथास्थितिवादी ही रहता है। वह आसानी से यथास्थिति को छोड़ना नहीं चाहता है। वह तकलीफ झेलते हुए भी वर्तमान में चिपका रहना चाहता है। वह वर्तमान को तभी छोड़ता है, जब उसे वर्तमान से पूर्ण निराशा होती है। नैराश्य की पराकाष्ठा में से ही क्रान्ति उभरती है। तब वह क्रान्ति किसी जमात या कार्यकर्ता की अपेक्षा नहीं रखती, अपने-आप होती है।

लेकिन यह समझना चाहिए कि निराशा की पराकाष्ठा होने पर

क्रान्ति ही उभरेगी, यह जरूरी नहीं है, वैसी परिस्थिति में विध्वंसक विस्फोट भी हो सकता है। बल्कि वैसी परिस्थिति में प्रायः विस्फोट ही होता है। विस्फोट और क्रान्ति एक ही परिस्थिति का परिणाम होता है। परिपूर्ण निराशा के काल में अगर किसी प्रकार के निर्दिष्ट विकल्प का दर्शन मौजूद रहता है, तो निराशा मुड़कर क्रान्ति की दिशा ले लेती है। लेकिन अगर विकल्प का भान नहीं रहता है तो समाज में विस्फोट होकर रह जाता है। हम लोगों का कार्य उसी घड़ी के लिए मार्ग प्रस्तुत रखना मात्र है।

इसलिए निरन्तर गहराई से और सफाई से क्रान्ति-विचार का प्रकाशन करते रहना होगा, चाहे तत्काल कोई निष्पत्ति न दिखाई दे। जल्दी से निष्पत्ति देखने के मोह मे इतिहास की करीब हर क्रान्ति दिशा-भ्रष्ट होकर प्रतिक्रान्ति की दलदल में फँसती रहती है।

लेकिन साथ-साथ यह भी समझना चाहिए कि अगर हम केवल क्रान्ति-तत्त्व का प्रकाशन ही करते रहेंगे, तो नैराश्य की घड़ी मे उसका दर्शन होगा, यह कोई जरूरी नहीं है। निराशा क्रान्ति की ओर तभी मुड़ेगी, जब इन्सान को उसकी सम्भावना की झलक हो। इसलिए कुछ क्षेत्रों में सम्भावना प्रकट करने का प्रयास करते रहना भी जरूरी है।

गांधीजी शान्तिमय तरीके से अन्याय, अत्याचार, शोषण आदि के प्रतिकार का विचार रखते थे। अगर वे केवल विचार ही रखते होते, वो गांधी के पहले के जिन ऋषियों ने इस विचार को रखा था, उन्हींकी तरह गांधी-विचार भी एक ऋषि-वाक्य बनकर रह जाता। लेकिन गाधीजी ने विचार के प्रकाशन के साथ-साथ जो सम्भावना प्रकट की, उसके कारण आज दुनिया के कोने-कोने मे निराशा की घड़ी में सत्याग्रह प्रकट हो रहा है। भारत में स्वयं गांधीजी के नेतृत्व में जो अहिंसात्मक प्रतिकार का कार्यक्रम चला था, वह बहुत कमजोर था। लेकिन उससे जो सम्भावना प्रकट हुई, उसके फलस्वरूप मार्टिन लूथर किंग के नेतृत्व में बड़े जोरदार सत्याग्रह का दर्शन हुआ।

इसलिए हम लोगों को भी विचार-प्रचार के साथ, कमजोर और अस्थायी ही सही, जगह-जगह पर सम्भावना प्रकट करते रहना होगा। विनोबाजी ने जो प्रदेश-दान आदि का काम किया, वह बहुत कमजोर था। इतना कमजोर था कि उसको 'बोगस' की संज्ञा मिलती रही है। *फिर भी देश और दुनिया के मानस में ग्रामदान शब्द परिपुष्ट हो गया।* क्योंकि चाहे संकल्प-पत्र पर हस्ताक्षर करनेवाले उस पर टिके नहीं, फिर भी विश्व-मानस की दृष्टि सम्मति-शक्ति की सम्भावना पर जम ही गयी।

उसी प्रकार विचार की गहराई से उद्बोधन तथा प्रकाशन के साथ-साथ पुष्टि की एवं सृष्टि की सम्भावना प्रकट करते रहना होगा। यद्यपि *हमारे काम के परिणामस्वरूप स्थायी रूप से ग्राम-स्वराज्य के बिन्दु पर* विशेष निष्पत्ति न दीखे, तो भी इतना काफी है कि आज की स्वार्थ-मूलक चारित्रिक परिस्थिति में भी लोग कुछ त्याग कर सकते हैं, सब मिलकर अपना कारोबार चला सकते हैं, सरकार-निरपेक्ष अपनी स्वतन्त्र शक्ति से कुछ आगे बढ़ सकते हैं—इसकी कितनी भी कमजोर और *अस्थायी ही सही, कुछ न कुछ सम्भावना प्रकट होती रहे।*

एक बात हम सबको अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि कोई भी क्रान्तिकारी क्रान्ति को पूरा नहीं कर सकता है। वह केवल अपनी क्रान्ति की सम्भावना प्रकट कर विश्व का ध्यान आकृष्ट कर सकता है। *अपने इस 'रोल' के बारे में एक बार यदि हमारे मन में सफाई हो जायगी, तो हमें निराशा कभी नहीं छूयेगी।* परिणाम आदि की सब चिन्ता छोड़कर हड्डी गलाने के संकल्प के साथ हमें हमारी क्रान्ति की सम्भावनाएँ प्रकट करते रहने के लिए आज एक-एक क्षेत्र लेकर मार्ग-खोजन में लग जाना है। *हमारे आन्दोलन के आज के स्टेज का यह आह्वान है।*